आधुनिक भारत के निर्माता

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

एस. के. बोस

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

आषाढ़ 1901 : जुलाई 1979

मूल्य 9.00

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय,
भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित

विक्रय केन्द्र : प्रकाशन विभाग

सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001
कामर्स हाउस, करीम भाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई-400038
8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700001
शास्त्री भवन, 35, हेड्डोस रोड, मद्रास-600006
बिहार स्टेट कोआपरेटिव बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना
निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, त्रिवेंद्रम

नई दुनिया प्रेस, इन्दौर द्वारा मुद्रित

प्रस्तुत पुस्तकमाला

इस पुस्तकमाला का उद्देश्य भारत के उन महापुरुषों तथा महान नारियो की जीवनियां प्रकाशित करना है, जिनका हमारे राष्ट्रीय पुनरुत्थान एवं स्वाधीनता संग्राम मे महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमारी वर्तमान तथा भावी पीढियो के लिए इन महान स्त्री-पुरुषो की जानकारी सहज सुलभ हो। खेद का विषय है कि कुछ अपवादो को छोडकर, ऐसे महापुरुषो की प्रामाणिक जीवनिया उपलब्ध नही है। प्रस्तुत पुस्तकमाला इसी अभाव की पूर्ति की दिशा मे एक प्रयास है। हमारा प्रयास रहा है कि अपने इन विख्यात नेताओं के सरल-संक्षिप्त जीवन-चरित अधिकारी विद्वानो से लिखवा कर प्रकाशित किए जाएं।

व्यावहारिक कठिनाइयो के कारण यह सम्भव है कि हम ऐतिहासिक कालक्रम का पालन न कर सकें। तथापि, हमे पूर्ण विश्वास है कि शीघ्र ही इस पुस्तकमाला मे राष्ट्रीय महत्त्व के सभी यशस्वी व्यक्तियो के जीवन-चरित सुलभ हो जाएंगे। श्री आर. आर. दिवाकर इस पुस्तकमाला के प्रधान सम्पादक है।

विषय सूची

परिशिष्ट

13

1. उत्साह का पुनः संचार

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय 19 वी शताब्दी के सर्वाधिक प्रख्यात भारतीयों मे से एक थे। स्वेच्छा और स्वभाव से लेखक, वह उन असाधारण विभूतियो मे से थे, जिनके चिन्तन और विचारो का आधुनिक भारत के विकास पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

लेखक बंकिम की कलम मे बड़ी ताकत थी। उन्होने अपनी मातृभाषा बंगला को प्रचुर साहित्यिक कृतियों से समृद्ध बनाया। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होने अपनी भाषा को गौरव-गरिमा और नए मूल्य प्रदान किए और उसे पतन के उस गर्त से निकाला, जिसमे वह गिर चुकी थी। अपने प्रसिद्ध बंगला पत्र 'बंगदर्शन' के सम्पादक के रूप मे उन्होने 19 वी शताब्दी मे नव-बंगला साहित्यिक पुनरुत्थान के प्रेरणा-स्रोत का कार्य किया।

बंकिम ने अपना जीवन एक शुद्ध कलाकार के रूप मे शुरू किया। उस समय उन्हे पता भी नही था कि आगे चलकर उन्हे कही अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। प्रारंभ मे उनका उद्देश्य स्पष्टत अपने पाठको को आनंदित करने वाली सुन्दर कहानियो की रचना करना था। उनकी कहानियो मे एक युवा कलाकार के उस उल्लास के दर्शन होते है, जो उसे अपनी कल्पना के सहारे सुन्दर रूपो का सृजन करने पर प्राप्त होता है। परिपक्वता आने पर बंकिम के अन्दर का चिन्तक उभर कर सामने आया और धीरे-धीरे वह एक रचनात्मक देशभक्त की भूमिका निभाने लगे।

बंकिम की साहित्यिक यात्रा की कहानी शुद्ध कला के धरातल से भविष्यदृष्टा के धरातल तक के परिवर्तन की कहानी है। "केवल लेखक मे" जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा, वह "एक भविष्यदृष्टा और राष्ट्र-निर्माता"* बन गए। ऐसा परिवर्तन कर्मशील व्यक्तियों और चिन्तको दोनों को अपने देश को प्रगति और जागृति की ओर ले जाने की प्रेरणा देता है। चिन्तको की चिंतनधारा और विचारो पर चलकर

* बंकिम, तिलक, दयानन्द

ही कर्मशील व्यक्ति, राजनीतिक नेता और समाज सुधारक अपने समाज मे उपयोगी परिवर्तन लाते है। किसी राष्ट्र को तथ्य की दुनिया मे जन्म लेने से पहले विचारों और कल्पना के धरातल पर जन्म लेना पड़ता है। कर्म की गहमा-गहमी और उत्तेजक घटनाओ से दूर रहने वाले कुछ शात चिन्तक सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रेरक-शक्ति प्रदान करते है। ऐसी पुस्तके लिखी गई है जिन्होंने समाज को झकझोर दिया और नए इतिहास का निर्माण किया, जैसे 'रूसो' की पुस्तक 'सोशल कान्ट्रेक्ट' या 'श्रीमती स्टो' की पुस्तक 'अंकिल टॉम्स केबिन'। इसी प्रकार, कुछ सीमित दायरे मे ही सही, बंकिम की पुस्तक 'आनन्द मठ' ने, जिसमे उनका अमर गीत 'वन्दे मातरम्' आता है, देश मे जागृति पैदा की और तुमुल आन्दोलन को जन्म दिया।

केवल इतना ही नही, ऐसे समय मे जब गुलामो की भाति पश्चिम का अनुकरण करना एक आम बात थी और देश की विरासत और संस्कृति बहुत हद तक अपना मूल्य खो बैठी थी, बंकिम ने राष्ट्रीय भावना जगाने और देश के अतीत के प्रति गौरव की भावना उत्पन्न करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। वस्तुत उच्च स्तर की रचनात्मक देशभक्ति उत्पन्न करने वाली उनकी समस्त विचारधारा का समाज पर बडा जीवन्त प्रभाव पडा जो विदेशी शासन के दौरान बड़ा निर्जीव और पतनशील हो गया था।

बंकिम अपने दो प्रसिद्ध समकालीन व्यक्तियो—सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे राजनीतिज्ञ या ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे समाज सुधारक नही थे। उनका कार्यक्षेत्र भिन्न था। उन्होंने चिन्तन और भावना के कोमल क्षेत्र मे कार्य किया। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से जनता को झकझोरा और उनके विचारों को नई दिशा दी। बंकिम के साहित्यिक जीवन का विकास बडी जटिल पृष्ठभूमि मे हुआ। राजनीतिक दृष्टि से वह सामंतवादी सत्ता के जमाव का युग था, लेकिन साथ ही उस समय राष्ट्रीय चेतना का विकास भी हो रहा था। अपनी किशोरावस्था मे ही बंकिम ने 1857 की क्रान्ति देखी और 'विद्रोह के बाद के भारत' मे जब पूरी तरह ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई, बंकिम ने परिपक्वता प्राप्त की।

साथ ही साथ उनमे राजनीतिक चेतना बल पकड़ रही थी। राममोहन राय के समय से प्रज्ज्वलित राजनीतिक चेतना की वह प्रारभिक ज्योति धीरे-धीरे व्यापक रूप धारण कर रही थी। 1843 मे भारत मे सभी ब्रिटिश इलाको के निवासियो के कल्याण के लिए बगाल ब्रिटिश इडिया सोसाइटी की स्थापना

की गई। उसके बाद कम्पनीज चार्टर के नवीकरण के ऐन पहले 1851 मे ब्रिटिश इडिया एसोसिएशन की स्थापना हुई। अग्रेजी शिक्षा-प्राप्त उच्चवर्गीय व्यक्तियो के, जिनमे से अधिकाश ने सन 1817 मे स्थापित हिन्दू कालेज, कलकत्ता मे शिक्षा प्राप्त की थी, विचारो और विकासशील भारतीय प्रेस द्वारा प्रकाशित रचनाओ के माध्यम से राजनीतिक चेतना विकसित हो रही थी। 1867 और 1881 के बीच एक उत्साही देशभक्त नवगोपाल मित्रा ने जो 'नेशनल नवगोपाल' के नाम से मशहूर थे, हिन्दू मेला या चैत्र मेला के नाम से सभाए सगठित की, जिनसे देशभक्ति की भावना और विचारो का बडे व्यापक पैमाने पर प्रचार हुआ। 1876 मे इडियन एसोसिएशन की स्थापना हुई, जो कई दृष्टियो से उभरते हुए शिक्षित मध्यवर्ग का अग्रणी राजनीतिक सगठन था। 'द सिविल सर्विस एण्ड इल्बर्ट बिल' के विरुद्ध प्रदर्शन और वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट के विरुद्ध व्यापक असतोष ने उस अवधि को, जब बकिम अपने साहित्यिक जीवन की ऊचाइयो पर थे, बडी जोशीली पृष्ठभूमि प्रदान की।

इस अवसर पर तत्कालीन सामाजिक-सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करना उपादेय होगा। भारत की धरती पर अग्रेजो का आधिपत्य पूरी तरह स्थापित हो जाने के बाद देश सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सभी दृष्टियो से ह्रास की स्थिति को प्राप्त हो गया था। सबसे बुरी बात यह थी कि मानसिक और नैतिक क्षेत्रो मे जडता छा गई थी और इन परिस्थितियो मे सास्कृतिक पतन अनिवार्य था। लेकिन जैसे जैसे अग्रेजी शिक्षा का प्रसार हुआ, एक नई भावना ने समाज को अनु-प्राणित करना आरभ कर दिया। देश की भौतिक परिस्थितिया ज्यो-की-त्यो रही या यू कहे कि पहले से भी खराब हुई, फिर भी अन्य क्षेत्रो मे नई चेतना का उदय हुआ। यहा यह ध्यान देने की बात है कि मैकाले के 1835 के प्रसिद्ध मसौदे को सरकार की स्वीकृति मिलने से बहुत पहले ही बगाल मे अग्रेजी शिक्षा का प्रसार आरभ हो गया था और इसका केन्द्र था हिन्दू कालेज। इस प्रवृत्ति को 1835 की नई शिक्षा-नीति और बाद मे 1857 मे कलकत्ता, बम्बई और मद्रास मे तीन विश्वविद्यालयो की स्थापना से बहुत बल मिला।

अग्रेजी शिक्षा के प्रसार के कुछ उल्लेखनीय प्रभाव पडे, विशेषकर सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक क्षेत्रो मे। पश्चिमी शिक्षा ने सकीर्णता की दीवारो को गिरा दिया और आख मूदकर सब कुछ स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति के स्थान पर

विवेकपूर्ण प्रश्नमूलक दृष्टि बढने लगी । इससे तत्कालीन विश्वासों और परपराओ से जनता का विश्वास उठ गया और मूल्यों के आमूलचूल पुनराकलन की प्रक्रिया शुरू हो गई । तरुण बगाल के नाम से प्रसिद्ध विशिष्ट वर्ग ने, विशेषकर हिन्दू कालेज के अध्यापक डेरोजियो की प्रेरणा से तत्कालीन सामाजिक-धार्मिक परम्परा के प्रति विद्रोह किया और बड़े उग्र रूप से रूढ़ियों को तोडा ।

पश्चिमी प्रभाव का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम था, राममोहन राय द्वारा सामाजिक-धार्मिक सुधार की जोरदार शुरुआत । ब्रह्म समाज ने अपने विकास के विभिन्न चरणो में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता) और केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में सुधार आन्दोलन का उसके विभिन्न रूपो में प्रतिनिधित्व किया । राममोहन राय के समय से ही सभी आन्दोलन पश्चिम-प्रेरित थे । इनका लक्ष्य पश्चिम के नक्शे पर भारतीय समाज का पुनर्निर्माण करना था । राममोहन राय के मस्तिष्क में यूरोपीय स्तरों से मेल खाने वाले भारतीय समाज की स्थापना का विचार था ।

प्रारभिक सुधारवादी और विक्षोभशील वातावरण में सास लेने के कारण ईश्वरचन्द्र विद्यासागर पर भी ब्रह्म समाज का प्रभाव पड़ा । एक रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार का सदस्य होने के बावजूद वह हिन्दू रूढ़िवादिता के तत्कालीन वातावरण से ऊपर उठे, और उन्होंने हिन्दुत्व की लक्ष्मणरेखा के अन्दर रहते हुए भी उन दिनो के अत्यन्त सुधारवादी आदोलनो का नेतृत्व किया ।

पश्चिमी भारत मे भी अग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के कारण उसी प्रकार का जोश पैदा हुआ । वहा उदारवादी समाज सुधार आदोलन पिछली शताब्दी के सातवे दशक में प्रभावकारी रूप से शुरू हुआ । ब्रह्म समाज से प्रभावित होकर 1867 में डा आत्माराम पाण्डुरग ने प्रार्थना समाज की स्थापना की, जिसमे आगे चलकर रानडे और भण्डारकर भी शामिल हो गए । बंगाल मे विद्यासागर की भाति रानडे पश्चिमी भारत के समाज सुधार आदोलन के केन्द्र-बिन्दु थे ।

यह कहा जा सकता है कि इन सबसे भारतीय पुनर्जागरण के युक्तिवादी तथा उदारवादी चरण का निर्माण हुआ, जिसमे पश्चिमी स्वर मुखर था और समाजसुधारक समाज के पुनर्निर्माण के लिए मुख्यत. पश्चिमी आदर्शों का सहारा ले रहे थे । एक तरफ पूर्व का पूरी तरह प्रत्याख्यान नही किया गया था, तो दूसरी तरफ हिन्दू विश्वासों और रीति-रिवाजो को ज्यो का त्यो बिना टीका-टिप्पणी के

अपनाया भी नही जा रहा था। पश्चिमी युक्तिवाद के आ जाने से जनता मे जिज्ञासा की भावना उत्पन्न हो गई थी जिसके कारण अति प्राचीन धार्मिक परम्पराओ और विधि-निषेधो का सफाया हो रहा था।

पश्चिमवाद की ओर इस अधी दौड़ के विरुद्ध प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था और जल्दी ही इस प्रतिक्रिया ने जोर पकड लिया। पश्चिमी शिक्षा ने ही पुन. जागरण के प्रारम्भिक चरण मे शिक्षित उच्च वर्ग को अपनी भारतीय परम्पराओ से विमुख कर दिया। बाद मे उसी पश्चिमी शिक्षा ने लोगों मे भारत के अतीत के प्रति गौरव की भावना पैदा की, जिसे यूरोपीय प्राच्यविद्या-विशारद और उनके भारतीय सहचर बड़े परिश्रम से पुनर्जीवित और पुनर्निमित कर रहे थे। हिन्दू धर्म ने, जिस पर उस समय विशेषकर ईसाई प्रचारको द्वारा घातक प्रहार किए जा रहे थे, अब पुन स्थापित होना शुरू कर दिया। प्राचीन धर्म के प्रति आस्था रखने वाले लोगो के कट्टर विरोध के कारण पश्चिम प्रेरित सुधारवादी आदोलन की प्रगति अचानक रुक गई। आर्य समाज, रामकृष्ण परमहस आदोलन और थियोसोफिकल सोसाइटी, सभी अपने-अपने ढग से हिन्दू धर्म और सस्कृति को पुनर्जीवित करने मे सहायक सिद्ध हुए। उल्लेखनीय यह है कि विद्यासागर के विधवा-विवाह आदोलन के कारण पचास-साठ के वर्षो मे जो जोश पैदा हुआ था, वह सत्तर-अस्सी के वर्षो मे धीरे-धीरे समाप्त हो गया, रहा बहुपत्नी-प्रथा के विरुद्ध उनका आन्दोलन, सो वह सफल नही हो सका। जनता का मिजाज बदल रहा था। युक्तिवाद की आवाज से कही अधिक तेज, दृढ हिन्दू धर्म का नया स्वर सुनाई पड रहा था।* नवजागरण का यह दूसरा चरण था— उसका भावनात्मक पुनर्जागरणवादी चरण पूरे जोरो पर था। इसका राजनीतिक सहचर अर्थात अतिवाद या उग्रवाद देश मे इससे आगे चलकर सामने आया।

बकिमचन्द्र का सम्बन्ध नवजागरण के दूसरे चरण मे है। अतीत को पुनर्जीवित करने की इच्छा चाहे कितनी ही प्रबल क्यो न रही हो, पश्चिम का पूरी तरह तिरस्कार बिल्कुल सम्भव नही था। पश्चिमी सस्कृति और युक्तिवाद की भावना शिक्षित समाज के विभिन्न वर्गो मे गहरी उतर गई थी, जिसके कारण उनका दृष्टिकोण उदार हो गया था और परम्परागत विश्वासो और रीति-

* हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमेंट : खण्ड 2, डा. तारा चन्द

रिवाजों के बन्धन ढीले पड़ गए थे। पहले की स्थिति को पूरी तरह लौटाना अब असम्भव था। इसलिए अतीताभिमुखी बुद्धिवादियों ने पश्चिमी विचारों से उद्‌भूत प्रकाश में प्राचीन विश्वासों के प्रति युक्तिवादी उपायों को अपनाकर इस दुविधा से छुटकारा पाया। बंकिम पूर्वी भावना और पश्चिमी युक्तिवाद के इस सामंजस्य के अत्यन्त सुन्दर प्रतीक थे। प्रारंभ में उपयोगितावाद और प्रत्यक्षवाद के यूरोपीय दर्शनों से प्रभावित बंकिम ने स्वयं हिन्दू धर्म की पुनर्व्याख्या के लिए पश्चिमी पद्धति को अपनाया। उन्होंने अपने युग की इस दुविधा का समाधान पश्चिमी जिज्ञासु वृत्ति और पूर्वी विश्वास में समन्वय स्थापित करके किया। इस प्रकार हिन्दू धर्म की पुनर्व्याख्या करते हुए उन्होंने इसके उदार सार्वभौमिक तत्त्व को उभारकर सामने रखा और उसका संबंध उस युग की नवीन विचारधारा के, जिसमें समाज और राष्ट्र संबंधी विचारधारा भी सम्मिलित थी, साथ जोड़ा।

पश्चिमी प्रभाव का एक और महत्त्वपूर्ण परिणाम था देशी भाषाओं और साहित्य की समृद्धि। भारतीय पुनर्जागरण सर्वव्यापी था, जिसका न सिर्फ समाज और धर्म पर, बल्कि साहित्य और संस्कृति पर भी प्रभाव पड़ा, जैसा कि यूरोप में यूरोपीय पुनर्जागरण के दौरान हुआ था। जब बंकिम साहित्यिक मंच पर उतरे, तब पश्चिम के अंधानुकरण का, जिस पर उन्होंने अपनी कुछ हल्की-फुल्की रचनाओं में गहरा व्यंग्य किया है, शिक्षित समाज में बहुत बोलबाला था। इससे भी बुरी बात यह थी कि समाज के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग बंगला भाषा और साहित्य को हेय दृष्टि से देखते थे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि बंगला साहित्य जड़ हो गया था और ह्रास की अवस्था में था। लेकिन पश्चिमी विचारों के प्रसार से हवा का रुख बदल रहा था। मातृभाषा को उस उपेक्षा से बचाने के लिए, जिसका वह शिकार हो गई थी, निष्ठापूर्वक प्रयत्न किए जा रहे थे। बंगला साहित्य के अद्वितीय पुनरुज्जीवन की आधारशिला श्रीरामपुर के मिशनरियों, फोर्ट विलियम कालेज के लेखक-समूह, राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, अक्षयकुमार दत्त, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि द्वारा रख दी गई थी। बंकिम के वरिष्ठ समकालीन माइकेल मधुसूदन दत्त ने पश्चिम के नमूने पर मुक्त छन्द की शैली में महाकाव्य की रचना करके बंगला कविता को एक नई दिशा दी और उसे मध्यकालीन स्थिति

में निकाल कर आधुनिक युग तक पहुचा दिया। बंकिम ने स्वय भी इस साहित्यिक पुनर्जागरण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वस्तुत जैसा कि विपिनचन्द्र पाल ने कहा है, "बंकिम इस पुनर्जागरण के मसीहा थे"।* भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष और ऊंचे दर्जे के लेखक रमेशचन्द्र दत्त ने उस अवधि के साहित्यिक अभ्युत्थान में बंकिम के स्थान का बड़ा ही सुन्दर आकलन किया है।** 1815 से 1830 तक राममोहन सर्वोपरि थे और 1872 तक विद्यासागर। विद्यासागर के साथ दीनबंधु मित्र और माइकेल प्रभुत्व में भागीदार बने। जब विद्यासागर ने साहित्य की गद्दी खाली कर दी और 1873 में माइकेल और दीनबंधु दोनों का निधन हो गया, तब साहित्यिक गगन में बंकिम निर्विवाद होकर चमके।

---

* माई लाइफ एंड टाइम्स

** कल्चरल हैरिटेज ऑफ बंगाल

2. प्रारम्भिक वर्ष

बकिमचन्द्र एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार मे पैदा हुए थे। उनका परिवार पूर्वी रेलवे लाइन पर नैहाटी स्टेशन के निकट काठालपाड़ा मे रहता था। कलकत्ता से यदि रेलगाडी में जाए, तो इस स्थान मे लगभग एक घटे मे पहुंच सकते हैं। वहा बकिम का जन्म 26 जून, 1838 को हुआ* । इस उपनगरीय बस्ती मे आज भी उनका टूटा-फूटा पैतृक घर मौजूद है। जो कमरा कभी बकिम का अध्ययन कक्ष था, उसमे अब एक छोटा-सा संग्रहालय बना हुआ है।

उन दिनो उस क्षेत्र मे रेलगाडिया नही चलती थी। सचार-सुविधाए बहुत खराब और अविकसित थी। लोगो को लम्बे सफर या तो पैदल चलकर तय करने पड़ते थे या नौका और पालकी मे बैठकर। काठालपाड़ा किसी अन्य गाव की भाति ही शुद्ध देहात था। वहा बकिम का जन्म एक ऐसे परिवार मे हुआ था, जो काफी सम्पन्न था और समाज में बड़ा सम्मानित था।

बंकिम के घर के निकट ही अर्जुन नामक तालाब था, जिसके साथ काल-क्रम मे रहस्यात्मकता का भाव जुड़ गया था। कहा जाता है कि युवा बकिम ने इसके किनारे एक सुन्दर बाग लगाया था, जिसमे बैठकर वह कल्पना की उड़ाने भरा करते थे। इस तालाब को देखकर उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'कृष्णकान्तेर विल' मे वर्णित वारुनी तालाब की याद आ जाती है, जिसके किनारे गोविंदलाल और रोहिणी अपनी प्रेम-लीलाएं रचा करते थे।

निकट ही एक नहर बहती थी जो घने जगलो मे से होकर गुजरती थी। सापो और जंगली जानवरों की परवाह किए बिना बकिम इस नहर के किनारे घूमा करते थे। बचपन में ही प्रकृति के प्रति बकिम का प्रेम व्यक्त होने लगा था। काठालपाड़ा की निर्बाध पृष्ठभूमि ने स्पष्टतः बकिम को प्रचुर साहित्यिक प्रेरणा प्रदान की।

बकिम के पुरखे गंगा के पश्चिमी किनारे स्थित हुगली जिले से आकर पूर्वी किनारे पर काठालपाड़ा मे बस गए थे। उनके पिता जादवचन्द्र चट्टोपाध्याय ने

---

* बंकिम के भतीजे शचीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक बकिम जीवनी मे 27 जून को बंकिम जन्म दिवस लिखा है।

उडीसा मे नौकरी शुरू की और सन 1838 मे, जब बकिम का जन्म हुआ, वह डिप्टी कलेक्टर के पद पर पहुच चुके थे ।

जादवचन्द्र के बारे मे एक बडी विचित्र कहानी प्रसिद्ध है । जब वह लगभग 13 वर्ष के थे, तो घर से भाग निकले और उडीसा पहुच गए, जहा उनका बड़ा भाई नौकरी करता था । वहा वह इतने सख्त बीमार हुए कि सबने उनके जीवन की आशा छोड दी और उनका अंतिम-सस्कार करने के लिए नदी किनारे ले गए । उसी समय एक चमत्कारी सन्यासी वहा प्रकट हुए और उन्होने दाह-संस्कार रोकने का आदेश दिया । उनकी दैवी शक्ति से जादवचन्द्र फिर से जीवित हो गए और बाद मे उन्होने अपने प्राणदाता से धार्मिक दीक्षा ली । (कहा जाता है कि वही सन्यासी एक बार फिर उनकी मृत्यु से कुछ ही पहले उनके पास आए थे ।) इस घटना का महत्व केवल इसीलिए नही है कि इससे चट्टोपाध्याय परिवार और सन्यासियो के बीच रहस्यात्मक संबंधो का पता चलता है, बल्कि इसलिए भी है कि स्वय बकिम के सवेदनशील मन पर सन्यासियो का गहरा प्रभाव पडा । एक कापालिक सन्यासी (तात्रिक संन्यासियो का एक वर्गविशेष) के साथ उनके निजी अनुभव का उल्लेख आगे एक अध्याय मे किया गया है ।

संन्यासियों से उद्भूत श्रद्धा के भाव से बकिम का मन जीवन भर आप्लावित रहा । वस्तुत उनके कुछ उपन्यासो मे सन्यासियो का उल्लेख बडी प्रमुखता से हुआ है ।

चट्टोपाध्याय परिवार डिप्टी मजिस्ट्रेटो का परिवार रहा । अपने पिता की भांति ही बकिम भी डिप्टी मजिस्ट्रेट बने । उनके दो बडे भाई, श्यामाचरण और सजीवचन्द्र भी डिप्टी मजिस्ट्रेट थे, हालाकि सजीव इस पद पर थोड़े समय के लिए ही रहे । उनके छोटे भाई पूर्णचन्द्र भी डिप्टी मजिस्ट्रेट थे । एक ही परिवार मे इतने सारे डिप्टी मजिस्ट्रेट होना एक उल्लेखनीय सयोग था ।

उपनिवेशवादी शासन के दिनो मे डिप्टी मजिस्ट्रेट का पद सब से ऊंचा पद था जिसे भारतीय प्राप्त करने की आकाक्षा कर सकते थे । बकिम जैसे उच्च प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति को भी डिप्टी मजिस्ट्रेट और डिप्टी कलेक्टरी से ऊपर पदोन्नति नही दी गई, हालाकि उनके ब्रिटिश उच्चाधिकारी उनकी सेवाओं की बहुत प्रशसा करते थे । 1857 के राजकीय घोषणापत्र के बाद सैद्धान्तिक रूप मे तो ब्रिटिश साम्राज्य की सीमाओ में जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को

इण्डियन सिविल सर्विस (भारतीय असैनिक सेवा) में नियुक्ति का अधिकार दे दिया गया था, लेकिन नौकरशाही के हथकण्डों के कारण आगे काफी समय तक भारतीयों के लिए इस सेवा में प्रवेश सम्भव नहीं हो सका। कहीं जाकर 1863 में पहले भारतीय सत्येन्द्रनाथ टाकुर को इस 'दिव्यसेवा के सिंहद्वार' में प्रवेश करने का अवसर मिला। सिविल सर्विस परीक्षा में बैठने की आयुसीमा को कम करने का उद्देश्य स्पष्टतः इस सेवा में भारतीयों के प्रवेश को सीमित करना था। आयुसीमा को इस मनमाने ढंग से कम करने के विरुद्ध सुरेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय तथा अन्य व्यक्तियों के नेतृत्व में शिक्षित वर्ग ने एक जोरदार आंदोलन शुरू किया। इस सिविल सर्विस आंदोलन के कारण राष्ट्रीय एकता की भावना उत्पन्न हुई। बंकिम हालांकि एक मूकदर्शक की तरह यह सब देख रहे थे, लेकिन उनको अधिक निराशा तब हुई जब युवा ब्रिटिश नागरिकों को, जिन्होंने उनके अधीन प्रशिक्षण प्राप्त किया था, उनसे ऊपर के पदों पर आसीन कर दिया गया।

अब फिर हम बंकिम के बचपन के दिनों की ओर लौटते हैं। उनकी अपने पारिवारिक देवता राधावल्लभ में विशेष रुचि थी, जिनकी पूजा उनके परिवार में बड़े उत्साह से की जाती थी। रथयात्रा पर्व के समय बड़ी धूमधाम से समारोह मनाया जाता था, जिसका केन्द्र वही देवता होते थे। बंकिम के पैतृक घर के निकट एक मेला लगता था। इस मेले में बहुत से लोकप्रिय आकर्षण होते थे जिनमें कठपुतली का नाच भी एक था। प्रारम्भ से ही स्वतन्त्र-चिन्तक बंकिम आगे चलकर राधावल्लभ या यों कहें कि कृष्ण सम्प्रदाय के भक्त बन गए।

बंकिम ने स्वयं सजीव की कृतियों की भूमिका में अपने प्रारंभिक जीवन की कुछ झांकियां प्रस्तुत की हैं। उनकी शिक्षा घर पर एक स्थानीय पाठशाला (गांव की प्राथमिक पाठशाला) के प्रधानाध्यापक के अधीन शुरू हुई। लेकिन उन्हें गांव में दी गई शिक्षा से विशेष लाभ नहीं हुआ। उनकी वास्तविक शिक्षा वस्तुतः 1844 में मेदिनीपुर में शुरू हुई, जहां उनके पिता की नियुक्ति हो गई थी। वहां उन्होंने एक अंग्रेजी स्कूल में अंग्रेज हेडमास्टरों के अधीन शिक्षा प्राप्त की। बचपन में बंकिम ने असाधारण प्रतिभा का प्रदर्शन किया। वह अपने पाठ आश्चर्यजनक बुद्धिमत्ता और तेजी से ग्रहण करते थे। इससे उनके पिता उनकी शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने लगे। मेदिनीपुर में अंग्रेजी के ज्ञान की उनकी दृढ़ आधारशिला रखी गई। हुगली कालेज में, जहां वे बाद में पढ़ने के लिए गए, यह आधारशिला और मजबूत हो गई। उनका भाषा पर इतना अधिकार हो गया कि बाद

में उन्होंने अंग्रेजी में 'राजमोहन्स वाइफ' नामक एक सम्पूर्ण उपन्यास की रचना की। अपनी मातृभाषा में शानदार पुनरुज्जीवन लाने वाले उस व्यक्ति ने पहले अंग्रेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया और उसके माध्यम से पश्चिमी विचारों और चिन्तन को पूरी तरह आत्मसात किया।

मेदिनीपुर मे चार साल तक स्कूल मे पढ़ने के बाद बंकिम कांठालपाड़ा वापिस आ गए। 1849 मे उनका विवाह एक पाच साल की लडकी से हो गया क्योंकि उन दिनो बाल-विवाह का प्रचलन था।

उसके बाद उसी साल उन्होंने हुगली कालेज मे प्रवेश लिया। यह कालेज उन दिनों बहुत प्रसिद्ध था। यह उनके शैक्षणिक जीवन का एक महत्वपूर्ण चरण था। हुगली कालेज गंगा के पश्चिमी किनारे पर था और कांठालपाडा पूर्वी किनारे पर। बंकिम अपने गाव से कालेज पढ़ने जाते थे। इस प्रकार कालेज पहुचने के लिए बंकिम को रोज नौका मे बैठकर हुगली नदी को पार करना पड़ता था, जिसमे उतार-चढ़ाव आते रहते थे। उन दिनों कालेजों मे एक स्कूल अनुभाग होता था और एक कालेज अनुभाग। स्कूल अनुभाग मे कई कक्षाए लगती थी, जूनियर और सीनियर। जूनियर सेक्शन से शुरू करके बंकिम कालेज तक पुरस्कार और उपाधियां प्राप्त करते हुए आगे बढ़े। 1854 मे वह 1853 की जूनियर स्कॉलरशिप परीक्षा मे प्रथम आए और आठ रुपए की छात्रवृत्ति प्राप्त की। 1856 की सीनियर स्कॉलरशिप की परीक्षा मे उन्हें प्रत्येक विषय मे उच्चतम योग्यता प्राप्त करने के उपलक्ष्य में बीस रुपए की छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। हुगली कालेज में पढते हुए उन्होने प्रसिद्ध विद्वानो के अधीन निजी तौर पर संस्कृत का अध्ययन शुरू किया, जिसमें आगे चलकर उन्होंने विशिष्टता प्राप्त की। पश्चिमी ज्ञान की प्राप्ति से ही उनका युवा जिज्ञासु मन तृप्त नही हुआ। उन्होंने यह अनुभव किया कि अपनी बौद्धिक जिज्ञासा को शात करने के लिए संस्कृत के विपुल साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। इस प्रकार आधुनिक ज्ञान और प्राचीन ज्ञान, दोनो मे समान अधिकार प्राप्त करके उन्होने स्वयं को जीवन के महान कर्त्तव्यों के लिए तैयार किया।

हुगली कालेज में उनकी यह अवधि एक और दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण थी। इसी अवधि मे उनकी साहित्यिक प्रतिभा को पहली बार अभिव्यक्ति का अवसर मिला। उस समय कवि ईश्वरचन्द्र गुप्त बंगला के साहित्यिक संसार के निर्विवाद नेता

थे। वह बंगला कविता की परंपरागत शैली के, जिसका तेजी से ह्रास हो रहा था, अंतिम शक्तिशाली व्याख्याता थे। बंगला कविता अपने पुनरुज्जीवन के लिए माइकेल मधुसूदन दत्त की प्रतिभा के जादुई संस्पर्श की प्रतीक्षा कर रही थी। लेकिन कवि गुप्त का शक्तिशाली व्यक्तित्व था। उनके दो महत्त्वपूर्ण पत्र थे, 'संवाद प्रभाकर' (1831) और 'सवाद साधुरजन' (1847)। इनमे से पहला पत्र पहले साप्ताहिक था और बाद मे दैनिक हो गया और दूसरा साप्ताहिक था। इन दो पत्रों ने उस समय की साहित्यिक गतिविधियों को बहुत प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त इन पत्रो ने साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करने के इच्छुक युवको के लिए प्रशिक्षण मंच प्रदान किया, जिसमे कवि गुप्त स्वय सरक्षक की भूमिका अदा करते थे। बकिम ने 1852 मे इन पत्रो मे लिखना तब प्रारंभ किया जब उनकी उम्र लगभग 14 वर्ष की थी और वह हुगली कालेज में पढ़ रहे थे। 1853 मे उन्होंने 'सवाद प्रभाकर' मे आयोजित एक कविता प्रतियोगिता में भाग लिया और नकद इनाम जीता। इस पत्र ने उस समय के तीन प्रतिभाशाली विद्यार्थियो हुगली कालेज के बकिमचन्द्र, हिन्दू कालेज के दीनबन्धु मित्र और कृष्णनगर कालेज के द्वारिकानाथ अधिकारी मे काव्य रचना की होड़ को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार बकिम की प्रतिभा को पहली बार किशोरावस्था मे अभिव्यक्ति का अवसर मिला। बकिम को कवि गुप्त से बहुत प्रेरणा मिली। उनकी प्रारंभिक रचनाए मुख्यत: कविताएं थी और उन पर गुप्त का प्रभाव स्पष्ट था, हालांकि उनमें विकास की अन्य संभावनाएं स्पष्ट परिलक्षित हो रही थी।

हुगली कालेज मे बकिम की पढ़ाई तब समाप्त हुई जब जुलाई 1856 में उन्होंने कानून की पढाई के लिए कलकत्ता के प्रेसिडेसी कालेज मे प्रवेश लिया। उस समय उनका "ललित पुराकालिक गल्प तथा मानस" नामक पहला काव्य संकलन प्रकाशित हुआ। हालांकि ये कविताए उन्होंने 1853 में लिखी थी। 'ललित' प्राचीन ढग की पद्य मे लिखी गई वर्णनात्मक कथा की तरह की रचना है, जबकि मानस एक भावात्मक काव्यकृति। लेकिन बकिम ने इसके बाद पद्य को छोड़कर गद्य मे रचनाए शुरू कर दीं। 1856 से 1864 तक उन्होने कोई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रयास नही किया सिवाय अग्रेजी मे 'राजमोहन्स वाइफ' नामक उपन्यास लिखने के। इस अवधि में मुक्त छन्द की शैली में महाकाव्य की रचना करके मधुसूदन दत्त ने साहित्यिक क्षेत्र मे हलचल मचा दी थी। यह कहा जाता है कि मधुसूदन की श्रेष्ठ काव्य-प्रतिभा ने सभवतः बकिम को हतोत्साह कर दिया और उन्होंने पद्य

का परित्याग कर गद्य मे लिखना शुरू कर दिया। ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि उनके संरक्षक ईश्वर गुप्त ने भी इन्हे गद्य में लिखने की सलाह दी। लेकिन इन सब से अधिक एक और युक्तिसंगत कारण यह हो सकता है कि कविता की ओर स्वाभाविक रुझान के बावजूद उन्होने कविता की अपेक्षा गद्य को आत्माभिव्यक्ति का अधिक उपयुक्त माध्यम पाया।

वकिम के जीवन मे अगले दो वर्ष महत्त्वपूर्ण थे। 1857 मे स्थापित कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उसी वर्ष अप्रैल से प्रवेशिका परीक्षा (एंट्रेंस) आरभ की थी। बकिम प्रेसिडेन्सी कालेज के कानून विभाग से इस परीक्षा में बैठे और इसे प्रथम श्रेणी मे पास किया। 1858 मे पहली बार बी ए. की परीक्षा हुई, जिसमें 13 उम्मीदवार बैठे। उनमे से केवल दो पास हुए, बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय और जदुनाथ वसु। इस प्रकार ये दोनो कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रथम स्नातक बने। वस्तुत. परीक्षा इतनी कठिन थी कि इन दोनो को भी पास करने के लिए सात-सात रियायती नम्बर देने पडे। बाद मे उसी वर्ष उन्हे डिग्रिया मिल गई। नव-स्थापित विश्वविद्यालय की बी ए की प्रथम परीक्षा मे उनकी सफलता से शिक्षित वर्ग मे बडा जोश पैदा हुआ।

उनकी यह विशिष्ट सफलता सरकारी अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए काफी थी। बी. ए का परीक्षाफल घोषित होने के कुछ ही महीने बाद वह बगाल के उपराज्यपाल के आदेश से डिप्टी मजिस्ट्रेट और डिप्टी कलेक्टर नियुक्त हो गए और जसोर (अब बागला देश में) भेज दिए गए। उस समय सामयिक रूप से उनके कानून की पढाई मे व्यवधान पड़ गया। लेकिन वह ऐसे व्यक्ति नही थे कि पढाई बन्द कर देते। वह बहुत बाद मे—1869 मे, कानून की परीक्षा मे बैठे और अच्छे नम्बरो मे उत्तीर्ण हुए। स्पष्टत वकिम आरम्भ से ही स्वतन्त्र रूप से वकालत करना चाहते थे। सरकारी नौकरी स्वीकार कर लेने पर भी उन्होने इस विचार का सर्वथा परित्याग नही किया। सम्भवतः वह यह समझते थे कि परिस्थितियो के कारण हो सकता है कभी उनकी सरकार से खटक जाए और उन्हें नौकरी से अलग होना पड़े। ऐसी हालत मे हो सकता है कि उन्हें वकालत का पेशा अपनाना पड़े।

जसोर मे उनके कार्यकाल मे दो घटनाओ को छोड़ कर कोई विशेष घटना नही घटी। पहली थी श्री दीनवन्धु मित्र से उनका सम्पर्क, जो वचपन मे उनके

प्रतियोगी थे और उन दिनों के एक प्रसिद्ध साहित्यकार थे। उनकी मित्रता गहरी और अक्षुण्ण थी। दूसरे जसौर में रहते समय उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया जो उन्हें बहुत प्रिय थी। यह आघात काफी गहरा था, लेकिन शीघ्र ही उन्होंने इस पर विजय पा ली। 1860 के प्रारंभ में बंकिम ने दूसरा विवाह कर लिया। उन्हीं के अनुसार राजलक्ष्मी देवी ने जो उनकी दूसरी पत्नी थी, उनके जीवन में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था।

विभिन्न विवरणों से हमें बंकिम के बचपन और तरुणावस्था की रुचियों और प्रवृत्तियों का पता चल जाता है। प्रसिद्ध विद्वान हरप्रसाद शास्त्री का कथन है कि बंकिम की इतिहास में, विशेषकर यूरोपीय पुनर्जागरण के इतिहास में विशेष रुचि थी और वह बंगाल में भी उसी प्रकार के अभ्युत्थान का स्वप्न देखते थे।* उन्होंने 'बंगदर्शन' में बहुत से ऐतिहासिक लेख लिखे, जिनसे इतिहास के प्रति उनके लगाव का पता चलता है। बंकिम का कविता का शौक भी बना रहा और वह बहुत ही आकर्षक ढंग से कविता पाठ करते थे।

ऐसा बताया गया है कि बंकिम कठिन शारीरिक व्यायाम के विरुद्ध थे और उन्हें घर में बैठ कर ताश खेलना और संगीत का आनन्द लेना ज्यादा पसन्द था। उन्होंने उस समय के प्रसिद्ध संगीताचार्य जदु भट्ट के योग्य मार्गदर्शन में संगीत सीखा।

इसका मतलब यह नहीं है कि बंकिम शरीर से दुर्बल थे या उनमें पुरुषोचित गुणों का अभाव था। वस्तुतः वह असाधारण रूप से निर्भय थे और उनके इस साहस का स्रोत उनकी अद्वितीय मानसिक और नैतिक शक्ति थी। एक बार यह बात फैल गई कि बहुत से यूरोपीय सैनिक नौका में सवार होकर काठालपाड़ा पहुंच गए है और उन्होंने नदी के किनारे डेरे डाल रखें हैं। उन दिनों वे इसी प्रकार समय-समय पर आते थे और गाव में विध्वंस मचाते थे। स्वभावतः गांव के लोग सैनिकों के डर से भाग खड़े होते थे और घरों में घुस कर दरवाजे बंद कर लेते थे। गाव की गलियां सुनसान हो जाती थी। लेकिन युवक बंकिम को स्वयं पर इतना गर्व था कि वह जरा नहीं डरे। अपने हाथ में बेंत लिए चुनौती की मुद्रा में वह बाहर खड़े रहे और उन्होंने निडरता से सैनिकों का मुकाबला किया।**

* नारायण (बंगला पत्रिका), बैसाख 1322 (बंगला संवत)

** बंकिम जीवनी, शचीशचन्द्र चट्टोपाध्याय; बंकिम्स चाइल्डहुड स्टोरीज, पूर्णचन्द्र चट्टोपाध्याय, नारायण, बैसाख 1322 (बंगला संवत)

इस सम्वन्ध मे एक और कहानी प्रचलित है। वंकिम ने उस समय युवा-वस्था मे प्रवेश किया ही था। उन्हें एक चेतावनी मिली कि डाकुओं का एक दल उनके घर डाका डालेगा। भयाक्रान्त होकर घर के बुजुर्गों ने महिलाओ और बच्चो को सुरक्षा के लिए एक पड़ोसी के घर भेजने का फैसला किया। युवा बंकिम ने इसका विरोध किया। उन्होंने जिद्द की कि कोई भी घर से बाहर न जाए, बल्कि डाकुओ का मुकाबला करने के लिए कुछ लठैतों को पैसे देकर नियुक्त किया जाए। उनका यह प्रस्ताव सबको अच्छा लगा। इसे मान भी लिया गया और डाकुओं की ओर से कोई हमला नही हुआ। कुछ और भी ऐसी ही कहानियों का उल्लेख मिलता है कि किस प्रकार बहुत ही खतरनाक मौसम मे बिना खतरे की परवाह किए वंकिम ने गंगा में नौका से यात्रा की और साहस का प्रदर्शन किया। इन सबसे बंकिम के अद्वितीय मनोबल और शारीरिक शक्ति का पता चलता है।

3. कुशल प्रशासक

बंकिम अगस्त 1858 में डिप्टी मजिस्ट्रेट और डिप्टी कलेक्टर बने और लगभग 33 वर्ष तक विभिन्न पदों पर कार्य करते रहे। उनका यह कार्य-काल लगातार स्थानांतरणों और यात्राओं से भरपूर था। वह बंगाल और उड़ीसा के कम से कम पन्द्रह जिलों और उपखण्डीय कस्बों में और कई बार एक ही स्थान पर एक से अधिक बार नियुक्त हुए। इनके अलावा उन्होंने अन्य पदों, जैसे मंडल आयुक्त के निजी सहायक और एक बार बंगाल सरकार के सहायक सचिव के पद पर भी कार्य किया।

बंकिम ने अपना सेवाकाल मुख्यतः पश्चिमी शिक्षा से प्राप्त उच्च आदर्शों को सामने रखकर आरम्भ किया था। लेकिन जब सरकारी काम के दौरान उन्हें जीवन की कटु वास्तविकताओं का सामना करना पड़ा, तब उन्हें अपनी शिक्षा के माध्यम से प्राप्त उच्च आदर्शों और देश में व्याप्त दयनीय परिस्थितियों के बीच के गहरे अन्तराल का पता चला। अपने प्रशासनिक कार्य के दौरान उनका सम्पर्क समाज के सभी वर्गों, विशेषकर निर्धन वर्ग से हुआ, जिसके दुःखों, यंत्रणाओं और अभावों का उनके मन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और उन्हें जीवन की सच्चाइयों का सही अंदाजा हुआ। उन्होंने देश की दुर्दशा, उसकी समस्याओं और उनके समाधान के उपायों के संबंध में सोचना शुरू कर दिया और उनके भीतर का देशभक्त धीरे-धीरे जागने लगा। मानव जीवन और उसकी समस्याओं से संबंधित उनके व्यापक अनुभव ने जहां एक ओर साहित्यिक कृतियों की रचना में उनकी सहायता की, वहां दूसरी ओर उनके भीतर छिपी देशभक्ति की भावना को उभार कर सामने लाने में योग दिया। विभिन्न प्रकार के अपने सरकारी कार्यों को करते हुए भी उन्होंने कभी लिखना बंद नहीं किया। उनकी कलम से बड़ी संख्या में उपन्यासों, कहानियों, निबंधों और व्यंग्य लेखों की रचना हुई। इन विविध प्रकार की विपुल साहित्यिक कृतियों में धीरे-धीरे देशभक्ति का स्वर गहरा होता चला गया।

1860 के प्रारम्भ में ही बंकिम का स्थानांतरण जसोर से नेगवा हो गया, जो उस समय मेदिनीपुर जिले का परगना था। वहां पहली बार उन्हें

समुद्रतटीय जगलों को देखने का अवसर मिला। वहां रहते हुए वह अक्सर कापालिक सन्यासियों के पास जाने लगे जो समुद्रतट के घने जगलों मे रहते थे। सभवत समुद्र किनारे के सुन्दर दृश्यो और कापालिको के सम्पर्क के कारण ही उनके मन मे रोमाचकारी उपन्यास 'कपालकुण्डला' की रचना का विचार आया।

नवम्बर 1860 में वहा से उनका स्थानातरण खुलना हो गया, जो उस समय जसोर जिले का उपखण्ड था (अब दोनो बागलादेश मे है)। लगभग उसी समय नौकरी मे उनकी पहली बार पदोन्नति हुई। उनका वेतन बढ़ाकर उन्हें पाचवीं श्रेणी का पद दे दिया गया।

खुलना मे उनका कार्यकाल प्रशासनिक दृष्टि से अविस्मरणीय था। खुलना मे उस समय अराजकता का बोल-बाला था। डकैती, लूटमार और अपहरण एक आम बात थी। नदी तटीय क्षेत्र होने के कारण सुदूर स्थित जलमार्ग पर आमतौर से डकैतिया होती रहती थी। इस युवा प्रशासक को अराजकता की स्थिति मे कानून और व्यवस्था के पुनर्स्थापन का उत्तर-दायित्व सौंपा गया। बंकिम ने इस चुनौती भरे कार्य को बड़ी योग्यता से सम्पन्न किया। डकैती की समस्या पर पूरी तरह काबू पाकर उन्होंने जलमार्ग को यातायात के लिए सुरक्षित बना दिया। कम उम्र के होने पर भी बंकिम अपने दायित्वों को निभाने मे दृढ और निर्भय थे। उनकी प्रशासनिक योग्यता की प्रशसा करते हुए सी. ई. बकलैंड ने कहा था, "उन्होंने पूर्वी जलमार्गों पर होने वाली डकैतियो को खत्म करके शांति और व्यवस्था कायम करने मे बड़ी सहायता की।"* इस संबंध मे यह ध्यान देने योग्य है कि बकलैंड का, जो एक समय बंकिम के वरिष्ठ अधिकारी थे, बंकिम के प्रति मैत्री भाव नहीं था।

खुलना मे बंकिम के सामने नदी के डकैतो से भी अधिक गंभीर चुनौती एक और थी। वह थी नील की खेती कराने वाले यूरोपियो की ओर से आई हुई चुनौती। नील आदोलन का देश के राजनीतिक जागरण में महत्वपूर्ण स्थान है। प्रारभ में नील की खेती ईस्ट इडिया कपनी का एक प्रमुख व्यवसाय था। धीरे-धीरे यह व्यवसाय निजी यूरोपीय पूजीपतियों के हाथो मे आ गया, जिन्होंने नील की खेती के लिए बड़ी मात्रा मे भूमि हथिया ली और बड़े-बड़े जमींदारियां

* बंगाल अण्डर दि लेफ्टिनेन्ट गवर्नर्स (खण्ड 2)।

स्थापित कर ली। इन जमींदारियों में पूरी तरह उनका शासन चलता था। स्वभाव से निरंकुश होने के कारण उन्होंने किसानों को नील की खेती करने के लिए मजबूर किया, बिना इसकी चिन्ता किए कि किसानों को उसमें पूरा मेहनताना भी मिलता है या नहीं। जो किसान उनका कहना नहीं मानते थे, उन्हें वे हर संभव तरीके से शारीरिक यंत्रणा देते और सताते थे। यदि एक बार कोई किसान किसी जमींदार से नील की बुआई के लिए अग्रिम धनराशि स्वीकार कर लेता, तो वह उस मालिक का गुलाम बन जाता था। नील की खेती करने वाले जमींदारों द्वारा सीधे-सादे किसानों पर किए जानेवाले अत्याचारों की मर्मभेदी कहानियों का उल्लेख आज भी मिलता है। किसानों को गिरफ्तार करके पीटा जाता और तहखानों में बन्द कर दिया जाता। उनके मकान जला दिए जाते और उन पर अमानवीय अत्याचार किए जाते, जिसके कारण कुछ एक किसान तो मृत्यु का ग्रास बन जाते थे। इस प्रकार यूरोपीय जमींदारों का देहातों में बड़ा आतंक था और वे वैधानिक कानून का उल्लंघन करते थे और नादिरशाही छाई रहती थी। नील की खेती की पद्धति को खून-खराबे पर आधारित पद्धति कहा गया है। यह कहा जाता है कि नील की एक भी पेटी बिना खून के दाग लगे इंग्लैंड नहीं पहुंचती थी।* सरकार किसानों की पीड़ा के प्रति उदासीन थी। उसने ऐसे कानून बनाए थे जिनसे किसानों की अपेक्षा बड़े जमींदारों को अधिक लाभ होता था।

1850 से 1860 की दस वर्ष की अवधि नील की खेती के चारों ओर व्याप्त अव्यवस्था की अवधि थी। 1859 में उत्तर बंगाल में रफीक मंडल और पश्चिम बंगाल में विश्वास भ्राताओं के नेतृत्व में लगभग 50 लाख किसानों ने नील की खेती की तत्कालीन पद्धति के विरुद्ध विद्रोह किया। 'हिन्दू पैट्रियट' नामक सनसनी पत्र के प्रसिद्ध संपादक हरीशचन्द्र मुखर्जी ने किसानों के हितों के लिए बड़ी प्रबल आवाज उठाई। इसी प्रकार 'अमृत बाजार पत्रिका' के संस्थापक-संपादक शिशिर कुमार घोष ने, जब वह तरुणावस्था में ही थे, नील की खेती कराने वालों के विरुद्ध चलाए गए इस आंदोलन को बड़ी सहायता प्रदान की। उस समय के एक और सशक्त लेखक ने तो मानो उथल-पुथल पैदा कर दी। बंकिम के मित्र और साथी लेखक दीनबन्धु मित्र ने अपने हृदयद्रावक नाटक 'नील दर्पण'

* हिस्ट्री आफ इंडिगो डिस्टर्बेन्सेज इन बंगाल, एस. सी. मित्र

के माध्यम से नील की खेती करानेवाले जमींदारो की निरंकुशता और अत्याचारों का भडाफोड़ किया। इस पुस्तक का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि स्वयं बंकिम ने *दीनबन्धु की कृतियो की भूमिका मे इस नाटक को 'अंकल टॉम्स केबिन ऑफ बगाल'* कहा है।

यह थी वह पृष्ठभूमि जब बकिम की नियुक्ति खुलना मे हुई। नील के आतकवादी जर्मीदारों से निपटने में बकिम कितने दृढ़ और वेझिझक थे, यह स्पष्ट करने के लिए एक ही कहानी का उल्लेख काफी होगा। बंकिम के क्षेत्राधिकार मे मोरेल नाम का नील की खेती कराने वाला एक शक्तिशाली जमीदार था, जिसका उस इलाके मे पूरी तरह हुक्म चलता था। पिछले कुछ अर्से से बारखाली गाव के किसानों से उसके सबध अच्छे नही थे, क्योंकि उन्होने न केवल लगान बढ़ाने का विरोध किया था, बल्कि अपने यूरोपीय मालिकों के लिए नील की खेती करने से भी इन्कार कर दिया था। मोरेल की अपनी एक निजी सेना थी जो बदूकों और लाठियो से लैस थी। क्रुद्ध होकर उसने अपने सुपरिन्टेन्डेन्ट डेनिस हेली के नेतृत्व मे अपनी सेना को बारखाली भेजा ताकि वह खेतिहरों को सबक सिखा सके। एकदम सवेरे आक्रमण किया गया। गाववाले इससे बिल्कुल बेखबर थे। मोरेल के सधे हुए सशस्त्र सैनिकों ने गाववालो को बुरी तरह परास्त किया। बहुत से ग्रामीण मारे गए, अन्य भाग खड़े हुए। सारे गाँव को लूट लिया गया। यहा तक कि स्त्रियों का भी लिहाज नही किया गया। सूचना मिलने पर बंकिम पुलिस का दस्ता लेकर गाव को ओर गए और उन्होने मोरेल, लाइटफुट (मोरेल का साझीदार), हेली और उनके अन्य भारतीय साथियो के विरुद्ध गिरफ्तारी के वारट जारी कर दिए। मोरेल और लाइटफुट भाग खड़े हुए और किसी प्रकार देश की सीमा मे बाहर चले गए। बकिम ने हेली को गिरफ्तार कर लिया और उस पर मुकदमा चला दिया। कहा जाता है कि मोरेल ने बकिम को भारी रिश्वत देनी चाही ताकि वह इस मामले को आगे न बढाएं, लेकिन उसे इसमें सफलता नही मिली। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि बकिम को मार डालने की भी योजना बनाई गई थी, लेकिन बकिम को न तो प्रलोभन झुका सका और न धमकियां ही तोड़ सकी। इस प्रकार बकिम ने जिस दृढ़ता और साहस का प्रदर्शन किया उससे नील की खेती करानेवालो की स्वेच्छाचारिता समाप्त हुई और खेतिहरों में शाति और विश्वास पैदा हुआ। जब जसोर जिले के अन्य सभी स्थानो मे संघर्ष चल रहा था, तब खुलना बिल्कुल शात था। उन्होने जिस प्रकार खुलना में नील

की खेती के कारण उत्पन्न स्थिति पर काबू पाया, उसकी बहुत प्रशंसा हुई। सरकार ने उनकी न केवल वेतन वृद्धि की बल्कि पदोन्नति भी कर दी, जिसमे वह चौथी श्रेणी के अधिकारी बन गए।

उसके बाद उनकी नियुक्ति बारुईपुर (चौबीस परगना जिला) मे हुई। 'सवाद प्रभाकर' के एक समाचार मे यह पता चलता है कि उन्होंने वहा शांति और व्यवस्था बनाए रखने और मेलों का प्रबध करने मे विशिष्टता प्राप्त की। हमें यह भी पता चला है कि जिन क्षेत्रो में तूफान के कारण तबाही हो गई थी, उन क्षेत्रो मे समय पर सहायता पहुंचाने के लिए वहा की जनता ने बकिम की बड़ी प्रशंसा की। लेकिन वहां से जल्दी ही उनका स्थानान्तरण हो गया। इस संबंध में मणि बागची ने एक घटना का उल्लेख किया है।* उनके अनुसार एक बार बारुईपुर मे बकिम की अदालत लगी हुई थी। उसी समय एक जुलूस गाजे-बाजे के साथ वहा से निकल रहा था। बकिम को न्यायालय के अपने कार्य में विघ्न महसूस हुआ। उन्होंने बाजा बन्द करने का आदेश दिया। दरअसल वह जुलूस एक प्रभावशाली स्थानीय जमीदार के संरक्षण मे निकल रहा था। जुलूस पर रोक लगाने के कारण वह जमीदार बकिम से बहुत नाराज हुआ और उसने किसी प्रकार तिकड़मबाजी करके बारुईपुर से बकिम का स्थानान्तरण करवा दिया। वहा से उनके जल्दी स्थानान्तरण की परिस्थितिया चाहे जो भी रही हो लेकिन सरकार उनसे अप्रसन्न नही थी। कुछ समय बाद फिर उनकी बदली बारुईपुर मे हो गई और वहां रहते हुए 1866 मे उनकी पदोन्नति हुई। अब वह तीसरी श्रेणी के अधिकारी बन गए थे।

उससे अगले साल उन्हें एक आयोग का सचिव नियुक्त किया गया, जिसकी स्थापना लिपिक-कर्मचारी वर्ग के वेतनक्रम निर्धारित करने के लिए की गई थी। यह एक बड़ा ही उत्तरदायी पद था, जिस पर पहले एक यूरोपीय न्यायाधीश नियुक्त था। इस पद पर उनकी नियुक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार का उनकी प्रतिभा और योग्यता मे कितना विश्वास था।

कुछ स्थानान्तरणों के बाद 1869 के अंत मे उनकी नियुक्ति बहरमपुर मे हुई, जहा उन्होने अपने जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चरणो में से एक में प्रवेश किया।

---

* बकिमचन्द्र, मणि बागची

यहा उनके व्यक्तिगत जीवन की एक घटना का उल्लेख करना आवश्यक है। 1865 मे काटालपाडा की उनकी पैतृक सम्पत्ति के उनके पिता द्वारा प्रस्तावित बटवारे को लेकर बकिम और उनके भाइयो मे झगडा शुरू हो गया। यह पारिवारिक विवाद बाद मे कभी खत्म हुआ हो, ऐसा पता नही चलता।

बकिम के सेवाकाल के सबध मे अधिक ब्यौरे उपलब्ध नही है। जो भी थोड़ी-बहुत सामग्री उपलब्ध है, उससे पता चलता है कि वह एक योग्य कार्यकारी अधिकारी तथा निष्पक्ष मजिस्ट्रेट थे और उन्होने अपने लम्बे और कठोर सेवाकाल मे स्वतत्रता, ईमानदारी और निष्पक्षता का कलक रहित रिकार्ड बनाए रखा। वह अपने उत्तरदायित्व के प्रति इतने सचेत थे कि न्यायालय सबंधी किसी मामले की वह कभी किसी से, यहा तक कि अपने रिश्तेदारो से भी चर्चा नही करते थे। सरकार भी उनसे बहुत खुश थी और कई बार उन्हे पदोन्नतिया मिली, लेकिन उनकी स्पष्टवादिता और ईमानदारी के कारण कई बार उनकी अपने ब्रिटिश उच्चाधिकारियो से खटपट भी हुई। वह अपने कर्त्तव्य के पालन मे इतने नियमनिष्ठ थे कि कोई आसानी से उन पर टीका-टिप्पणी करने का मौका नही ढूढ सकता था। फिर भी यूरोपीय अधिकारियों से कई बार उनका झगड़ा हुआ। बहुत हद तक इसका कारण एक तो उनकी स्वतत्र प्रकृति थी, जिसका निर्वाह उन्होने अपने सम्पूर्ण सेवाकाल मे करने का प्रयत्न किया और दूसरे उच्चाधिकारियो के सामने घुटने टेकने के प्रति उनकी घृणा। कालीनाथ दत्त ने लिखा है कि एक बार एक अग्रेज मजिस्ट्रेट बंकिम के न्यायालय मे गया और उसने उन्हे उनका नाम लेकर अर्थात बकिम कह कर पुकारा। बकिम ने तुरन्त उस अधिकारी को चेताया और कहा, "आपको पता होना चाहिए कि मै इस समय बंकिम नही हू। मै सम्राज्ञी के कानून और न्याय का प्रतिनिधि हू। आपको यह भी पता होना चाहिए कि मैं इसी समय आपको गिरफ्तार कर सकता हू और सम्राज्ञी के न्यायालय का अपमान करने के लिए आपको दण्ड दे सकता हू।" *

मजिस्ट्रेट के रूप मे कार्य करते हुए बकिम ने अपनी न्यायबुद्धि, ईमानदारी और निष्पक्षता तथा उदारता के काफी प्रमाण प्रस्तुत किए। वे पुलिस की स्वेच्छाचारिता के दिन थे। लेकिन जब कभी पुलिस ने गलतिया की, तो बकिम ने कभी उसकी निन्दा करने मे संकोच नही किया। यहा तक कि उन्होने अपराधी

* प्रदीप, श्रावण 1306 (बगला संवत)

पुलिसवालों को दण्ड भी दिया और यह सब करते हुए उन्होंने अपने उच्चाधिकारियों की नाराजगी की भी कभी चिन्ता नहीं की। सबल स्वतंत्रता उनका सबसे बड़ा गुण था। वस्तुतः वह अपने सेवा वर्ग के लिए एक विभूति ही थे।

लेकिन बंकिम कभी भी अपनी नौकरी से प्रसन्न नहीं रहे। निश्चय ही वह इस बात से बहुत निराश रहे कि भारतीयों के लिए सभी उच्च प्रशासनिक पदों के द्वार बन्द थे। उनके लिए सबसे पहली चिन्ता की बात संभवतः यह थी कि कठोर परिश्रम के कारण ही उनका स्वास्थ्य खराब हुआ था। संभवतः यही कारण था कि उन्होंने समय से पूर्व सेवानिवृत्ति प्राप्त की। लेकिन जब तक वे सरकारी सेवा में रहे, उन्होंने कभी अपनी निष्ठा और अपने उत्साह को मन्द नहीं पड़ने दिया।

4. अतीत की झांकियां

बगला भाषा और साहित्य के, जो उस समय तक ह्रास की स्थिति मे था, असाधारण पुनरुज्जीवन के लिए प्रारंभिक कार्य श्रीरामपुर के वेप्टिस्ट मिशन और सन 1800 मे वेलेजली द्वारा स्थापित फोर्ट विलियम कालेज के विद्वानों ने किया। किन्तु आधुनिक बगला साहित्य का जन्म वस्तुतः राममोहन राय के समय से माना जा सकता है, जब उन्होंने अपनी धार्मिक, शास्त्रार्थ सम्बन्धी और पत्रकारिता संबधी रचनाओं के माध्यम से बगला गद्य की आधारशिला रखी। इस क्षेत्र मे 1815 से 1830 तक राममोहन का वोलबाला रहा। उसके बाद 'तत्त्ववोधिनी' पत्रिका (1843) और उसके प्रतिभासम्पन्न सम्पादक अक्षयकुमार दत्त (1820-1886) ने राममोहन द्वारा रखी गई आधारशिला को सुदृढ़ किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने, जो उस समय 'तत्त्ववोधिनी' लेखक परिवार के अंग थे, भाषा को वह कलात्मक गरिमा प्रदान की, जिसका तब तक अभाव था। वह युग एक ओर शास्त्रार्थो और वाद-विवादों और दूसरी ओर अनुवादों और रूपान्तरणों का था। भाषा अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ थी और इसीलिए दैनिक प्रयोग के लिए अनुपयुक्त थी। विद्यासागर ने हालांकि भाषा को सरल बनाने का प्रयत्न किया, तो भी उनकी भाषा कुल मिलाकर सस्कृतनिष्ठ ही रही, जो जन-सामान्य मे 'विद्यासागरीय शैली' के नाम से प्रसिद्ध थी।

उस समय कथा साहित्य का बहुत अभाव था। लेखक अधिकाशतः सस्कृत, फारसी और अग्रेजी कहानियो का रूपान्तरण करके ही संतुष्ट हो जाते थे। प्रमथ नाथ शर्मा (1825) का 'नव बाबू विलास', प्यारे चन्द मित्र (1858) का 'आलालेर घरेर दुलाल' और कालि प्रसन्न सिन्हा (1862) का 'हुतुम पेंचार नक्शा' आदि रेखाचित्र आधुनिक कथा साहित्य के अत्यन्त निकट पड़ते थे। इनमें और इसी प्रकार की अन्य रचनाओं मे मित्र के 'आलालेर घरेर दुलाल' में एक सम्पूर्ण कथा की अधिकतम विशेषताए थी। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने सस्कृतनिष्ठ या 'विद्यासागरीय शैली' का पूरी तरह परित्याग करके जनसाधारण की भाषा अपनाई और समसामयिक सामाजिक जीवन के यथार्थ को आधार बना

एक नई दिशा दी। प्यारे चन्द की कृतियों के आमुख में बंकिम ने स्वयं उनकी उस चमत्कारपूर्ण नई पद्धति की बहुत प्रशंसा की है। मित्र ने भाषा को उबा देने-वाली जड़ शैली के बंधनों से छुटकारा दिलाकर जन-साधारण की बोलचाल की भाषा के निकट लाने का प्रयत्न किया। लेकिन जन-साधारण की भाषा के अत्यधिक निकट आ जाने के कारण उनकी भाषा में कई स्थानों पर सुरुचि और गरिमा का अभाव रहा।

कविता के क्षेत्र में ईश्वर गुप्त, जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है, पुरानी और पतनशील पीढ़ी का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। गुप्त की कविताओं की प्रशंसा बंकिम इसलिए करते थे कि उनमें बंगाल का आंचलिक पुट था। लेकिन वह गुप्त की कविता की कमियों के प्रति भी सचेत थे, जिनके कारण उनके बहुत से शिष्य, जिनमें स्वयं बंकिम सम्मिलित थे, उनके प्रभाव को त्यागकर अलग हो गए थे। सत्य तो यह है कि पश्चिमी प्रभाव से उत्पन्न नए युग का प्रादुर्भाव हो चुका था और चाहे कविता हो या गद्य, सभी क्षेत्रों में पुरानी परम्परा के कदम लड़खड़ा रहे थे। नए युग की कविता के प्रथम प्रवक्ता माइकेल मधुसूदन दत्त थे, वैसे ही जैसे कथासाहित्य के पुरोधा थे बंकिम।

बंकिम ने अपना साहित्यिक जीवन गद्य लेखक की अपेक्षा एक कवि के रूप में आरंभ किया, लेकिन जब वह बड़े हुए तब दो घटनाएं घटीं। एक तो वह ईश्वर गुप्त के प्रभाव से मुक्त हुए और दूसरे उन्होंने गद्य के पक्ष में कविता का परित्याग कर दिया। यह एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था। फिर भी उनमें सच्ची काव्य प्रतिभा थी। उनकी इस प्रतिभा के दर्शन हमें उनकी बहुत-सी कृतियों में होते हैं। ये वे कृतियां हैं, जिनमें बंगला साहित्य के कुछ सर्वोत्तम विवरण मिलते हैं। 1858 से 1864 की अवधि में नौकरी संबंधी उत्तरदायित्वों के भार से वह इतने दबे रहे कि उन्हें साहित्य रचना के लिए अधिक अवकाश नहीं मिल सका, तो भी उन्होंने अंग्रेजी में 'राजमोहन्स वाइफ' नामक कृति की रचना की और उसे 'इण्डियन फील्ड' नामक पत्रिका में धारावाहिक रूप से छपवाया। सम्भवतः उस अपेक्षाकृत मौन युग के समय भी वह उन महान उपन्यासों के लिखने की मानसिक तैयारी कर रहे थे, जो आगे चलकर उन्हें लिखने थे। ऐसा ख्याल है कि उन्होंने बंगला में अपने पहले उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' की रचना 1863-64 में, जब वह खुलना में थे, शुरू कर दी थी।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि बकिम की आत्माभिव्यक्ति की उत्कट इच्छा की तुष्टि विदेशी भाषा के माध्यम से नही हो पाई या सम्भवत: उन्होने कलात्मक अभिव्यक्ति के अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अग्रेजी में लिखने की निरर्थकता को अनुभव कर लिया था। इस संबंध में माइकेल मधुसूदन दत्त के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण धटना का उल्लेख करना आवश्यक है। पूरी तरह अग्रेजियत से प्रभावित और ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने वाले मधुसूदन ने अपना साहित्यिक जीवन अग्रेजी कविताओ की रचना से शुरु किया। उनकी कविता 'द कैप्टिव लेडी', जिसके साथ सलग्न कविता 'द विज़न्स ऑफ द पास्ट' एक सुन्दर रचना थी और उसकी बहुत प्रशंसा हुई थी। जब मधुसूदन ने 'द कैप्टिव लेडी' की प्रति प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री और शिक्षा परिषद् के अध्यक्ष ड्रिंकवाटर बेथून के पास भेजी, तो उन्होने (1849 मे) मधुसूदन को यह परामर्श दिया—"आपको अपनी प्रतिभा और रुचि का उपयोग अपनी मातृभाषा की कविता के सुधार के लिए करना चाहिए।" यह मधुसूदन के जीवन मे एक परिवर्तन-बिंदु सिद्ध हुआ और उन्होने पूरी तरह बंगला मे लिखना आरभ कर दिया और अपनी मातृभाषा में कविताएं और नाटक लिखकर उसके विकास मे अद्वितीय योग दिया। संभवत: अंग्रेजी के उस कट्टर समर्थक के इस असाधारण परिवर्तन का बकिम पर काफी गहरा प्रभाव पडा।

बकिम अग्रेजी भाषा और साहित्य के बडे प्रशसक थे, केवल इसलिए नही कि उसमे आधुनिक ज्ञान का भण्डार था, बल्कि इसलिए भी कि वह सारे भारत मे सचार का माध्यम थी और अत्यधिक विभिन्नताओ वाले इस देश मे एक जोड़ने वाली शक्ति थी। तो भी धीरे-धीरे उन्होंने अनुभव किया कि अग्रेजी भाषा समाज के उच्च वर्ग तक सीमित थी और विदेशी भाषा के माध्यम से जनसाधारण तक पहुचना सभव नही था।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि उन्होंने खुलना मे 'दुर्गेशनन्दिनी' लिखकर साहित्य के क्षेत्र मे पदार्पण किया। 1865 मे 'दुर्गेशनन्दिनी' के प्रकाशन से साहित्य जगत मे एक तहलका मच गया और चारो ओर बंकिम की बड़ी प्रशसा हुई हालाकि कुछ आलोचको ने उनकी भाषा मे दोष भी ढूढे। उनका कहना था कि इस उपन्यास मे साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा का अटपटा मिश्रण है। लेकिन कुल मिलाकर इसे एक महान युगप्रवर्तक उपन्यास कहा

गया क्योंकि इसने बंगला साहित्य के लिए नए क्षितिज खोल दिए। वस्तुतः यह उपन्यास इतना लोकप्रिय हुआ कि बंकिम के जीवनकाल में ही इसके 13 संस्करण प्रकाशित हुए।

'दुर्गेशनन्दिनी' कुछ ऐतिहासिक और कुछ तात्कालिक कथानकों पर आधारित एक रोमांटिक उपन्यास है। कहा जाता है कि बंकिम ने यह कहानी अपने दादा से सुनी थी, जो 108 वर्ष की आयु तक जीवित रहे। उपन्यास का कथानक विष्णुपुर (बंगाल) में राजा वीरेन्द्रसिंह के दुर्ग 'गढ़ मंदारन' पर पठानों द्वारा किए गए आक्रमण और विजय की घटनाओं के इर्द-गिर्द घूमता है। पठानों ने मुगल साम्राज्य की अवज्ञा करते हुए उड़ीसा मे अपने कदम पूरी तरह जमा लिए थे। अकबर के सेनापति मानसिंह ने पठानो का दिमाग ठिकाने लगाने के लिए अपने वीर पुत्र जगतसिंह को भेजा। वहां पहुंचने पर जगतसिंह का वीरेन्द्रसिंह की अत्यन्त सुन्दर पुत्री तिलोत्तमा से प्रेम हो गया। रात्रिकालीन गुप्ताक्रमण द्वारा पठानों ने गढ़ मंदारन पर कब्जा कर लिया और वीरेन्द्रसिंह, जगतसिंह और तिलोत्तमा को बंदी बना लिया। पठान प्रमुख कतलूखां के आदेश पर वीरेन्द्रसिंह को मार दिया गया। बदले की भावना से प्रेरित होकर वीरेन्द्रसिंह की अत्यन्त साधन सम्पन्न उपपत्नी विमला ने कतलूखां की हत्या करवा दी। इससे पठानों का दुर्ग ढह गया। मृत्यु शय्या पर पड़े हुए कतलूखां ने जगतसिंह के माध्यम से, जो उस समय बंदी था, अकबर से इस शर्त पर समझौता करने का प्रयास किया कि उसके बच्चों का उड़ीसा मे पूर्ण आधिपत्य स्वीकार कर लिया जाए। उसकी मृत्यु के बाद कहानी लगभग समाप्त हो जाती है।

कहानी की इस व्यापक राजनीतिक रूपरेखा मे बंकिम ने उत्सुकता जगाने वाले एक रोमांचकारी प्रेम-प्रसंग का गुंफन किया। एक ओर जगतसिंह और तिलोत्तमा एक-दूसरे से प्रेम करते हैं। दूसरी ओर कतलूखां की सुन्दर पुत्री आयशा अपने पिता द्वारा बंदी बनाए गए जगतसिंह से प्रेम करने लगती है। लेकिन आयशा को पठान प्रमुख सेनापति उस्मान दिल से चाहता है। इस प्रकार यह प्रेम कथानक अत्यन्त रोचक बन जाता है और इतिहास के शुष्क तथ्यों को आवश्यक मानवीय संवेदना प्रदान करता है। आयशा, जो जगतसिंह पर मोहित है, द्वारा तिरस्कृत कर दिए जाने पर उस्मान जगतसिंह को मल्लयुद्ध के लिए ललकारता है ताकि आयशा को पाने के लिए उनमें मे एक ही जीवित रहे। लेकिन वह राजपूत योद्धा से हार जाता

है। वीरेन्द्रसिंह की उपपत्नी विमला सम्पूर्ण उपन्यास में रहस्यमय बनी रहती है लेकिन उसकी उपस्थिति से कथानक को आवश्यक गतिशीलता प्राप्त होती है।

प्रसिद्ध इतिहास-लेखक यदुनाथ सरकार ने 'दुर्गेशनन्दिनी' को बंगला साहित्य का पहला सच्चा ऐतिहासिक उपन्यास कहा है।* बंकिम का लक्ष्य ऐतिहासिक तथ्यों के ब्यौरे में जाना नहीं था, लेकिन उन्होंने अपनी कहानी की रचना मुगल-पठान युद्ध की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को लेकर की और वह मुख्य घटनाओं और पात्रों में संबधित ऐतिहासिक तथ्यों को लेकर आगे बढ़े। शेष के लिए बंकिम ने अपनी रोमांटिक कल्पना का निर्बाध प्रयोग किया और वह इतिहास के शुष्क तथ्यों से बंधे नहीं रहे। इस बात को देखते हुए कि 'दुर्गेशनन्दिनी' बंगला में उनका प्रथम उपन्यास था, इसे एक उपलब्धि कहा जा सकता है। इसके कुछेक पात्र, विशेषकर विमला, उस्मान और आयशा बहुत ही रोचक हैं।

उन दिनों एक विवाद खड़ा हो गया था कि 'दुर्गेशनन्दिनी' स्कॉट के 'ईवानहो' की नकल है या नहीं। 'दुर्गेशनन्दिनी' में निस्सन्देह उस प्रसिद्ध अंग्रेजी गौरव ग्रंथ से कुछ स्पष्ट समानताएं थीं। 'ईवानहो' और जगतसिंह, ब्राइस गिल्बर्ट और उस्मान, रोवेना और तिलोत्तमा, रिबेका और आयशा, इन पात्रों में स्पष्टतः बहुत समानताएं हैं। इसके अतिरिक्त घटनाओं में भी काफी समानताएं हैं जैसे दोनों में मल्लयुद्ध का होना। लेकिन बंकिम ने एक से अधिक अवसरों पर यह कहा है कि उन्होंने 'दुर्गेशनन्दिनी' की रचना करने से पहले 'ईवानहो' नहीं पढ़ा था और उनके इस वक्तव्य पर अविश्वास करने का कोई कारण नजर नहीं आता। इसके अतिरिक्त विश्व की महान साहित्यिक कृतियों में इस प्रकार की समानताएं काफी मिलती हैं और इससे कृति की उत्कृष्टता कम नहीं हो जाती। वस्तुतः ये समानताएं ऊपरी हैं। 'दुर्गेशनन्दिनी' की कल्पना भिन्न प्रकार से की गई है और उसका भावनात्मक धरातल भी भिन्न है। यदि इसमें और 'ईवानहो' में समानताएं हैं भी, तो भी इसकी उत्कृष्टता कम नहीं होती।

यदि 'दुर्गेशनन्दिनी' में उपन्यासकार बंकिम की सृजनात्मकता के संबंध में कोई संदेह था भी, तो वह उनके दूसरे उपन्यास 'कपालकुण्डला' (1866) के बाद बिल्कुल दूर हो गया और आधुनिक बंगला कथा साहित्य के निर्माता के रूप में उनका स्थान सदा के लिए सुरक्षित हो गया। 'कपालकुण्डला' 'दुर्गेशनन्दिनी'

* बंकिम्स वर्क्स, सेन्टीनरी एडीशन, बंगीय-साहित्य परिषद

की अपेक्षा अधिक चुस्त, कला की दृष्टि से अधिक कसा हुआ और काल्पनिक अतिवादिता से मुक्त रचना है। इस उपन्यास में मनोवैज्ञानिक-सामाजिक समस्या उठाई गई है हालांकि इसमें भी एक ऐतिहासिक उपकथानक जुड़ा हुआ है। नेगुआ में बंकिम के पास अवसर आने वाले कापालिक और रेत के टीलों और भयानक निर्जन जंगलों से युक्त वहां के समुद्र-तट के उनके अनुभव से 'कपालकुण्डला' की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ। उपन्यास में इस समस्या को उठाया गया है कि समुद्र के किनारे के घने जंगलों की भयानक निर्जनता में कापालिक द्वारा पाली गई एक लड़की जब विवाह के बाद सामान्य सामाजिक परिवेश में जाती है तो किस प्रकार व्यवहार करती है। समस्या ऊपर से थोपी नहीं गई है, बल्कि उपन्यास के कलात्मक कलेवर में पूरी तरह सुन्दरता से गुंथी हुई है।

'कपालकुण्डला' की कथा संक्षेप में इस प्रकार है। प्रसिद्ध तीर्थस्थल गंगासागर से, जहां गंगा समुद्र में मिलती है, नौका से लौटते हुए एक युवक नवकुमार नदी के किनारे भयंकर निर्जन स्थान में अपने सहयात्रियों से बिछुड़ जाता है। यह स्थान समुद्र के निकट नदी के अंतिम छोर पर स्थित है। अकेला छूट जाने पर जंगलों में भटकता हुआ नवकुमार एक कापालिक के पास पहुंचता है, जो रहस्यमय क्रियाएं कर रहा था, जिनमें अन्य क्रियाओं के अलावा नरबलि भी सम्मिलित थी। नवकुमार को वहां एक बड़ा रोमांचकारी अनुभव होता है जब उसकी नजर एक अबोध तथा अत्यन्त सुन्दर युवती कपालकुण्डला पर पड़ती है। वह कापालिक इस युवती का पालन-पोषण अपनी रहस्यात्मक क्रियाओं में उपयोग के लिए कर रहा था। जब कापालिक नवकुमार को बलि पर चढ़ाने के लिए नदी किनारे ले जाता है तो नवकुमार किसी तरह बचकर कपालकुण्डला के साथ वहां से भाग निकलता है और निकट के एक गांव के ब्राह्मण की सहायता से कपालकुण्डला से विवाह करके अपने गांव लौट आता है। वह एकाकी लड़की, जिसका पालन-पोषण सामाजिक परिवेश से बहुत दूर प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में एक भयंकर तांत्रिक द्वारा किया गया था, जब सामान्य मानवीय सम्बन्धों से निर्मित सामाजिक परिवेश में आती है तो वह दुखी रहने लगती है—इसलिए नहीं कि वह कापालिक से अभिभूत थी। उसके प्रति तो उसकी जरा भी अनुरक्ति नहीं थी, बल्कि इसलिए क्योंकि वह स्वच्छन्द तथा उन्मुक्त प्राकृतिक वातावरण में पली थी, जिसका उसके कोमल मन और मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव था।

टखनों तक गिरते, ढेरों बाल। चित्रकार के चित्र की तरह उसकी केशराशि में से झाकता उसका सुन्दर चेहरा। घनी घुघराली लटों के कारण उसका पूरा चेहरा नजर नही आ रहा था। तो भी बादलो के बीच छिद्र में से झाकती चन्द्रमा की किरणों की तरह वह भी प्रकाशमान था। वह अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से लगातार देख रही थी ···उसकी आखों मे अथाह गहरी चमक थी।····उसने अपने शरीर पर कोई आभूषण धारण नही कर रखा था। लेकिन उसकी सम्पूर्ण आकृति मे ऐसा आकर्षण था, जिसका वर्णन संभव नही है। उसका रग अर्द्ध चन्द्र की भाति देदीप्यमान था, बाल गहरे काले। वर्ण और केश दोनो का ही अति निकटता के कारण सौन्दर्य द्विगुणित हो गया था। उसकी मनमोहिनी छवि का अनुमान, गहरे अनुनाद वाले समुद्र के किनारे पर संध्या के धुधले प्रकाश मे उसे देख कर ही लगाया जा सकता है।···फिर समुद्र के उस निर्जन किनारे पर वे एक-दूसरे को कुछ देर तक लगातार निहारते रहे। काफी देर बाद नारी की आवाज सुनाई दी। उसने कोमल स्वर में कहा, "पथिक, क्या तुम राह भूल गए हो?"

बहुत से लोगों ने कपालकुण्डला की तुलना मिराडा, शकुन्तला और लूसी ग्रे से की है। उसमे और मधुर एकान्त मे पली इन सबमे समानता तो निश्चित रूप से ढूंढ़ी जा सकती है। लेकिन 'कपालकुण्डला' में न केवल परिस्थितिया भिन्न थीं बल्कि उसकी प्रेरणा भी भिन्न थी। समाज के परिवेश से बाहर पले एक अबोध मस्तिष्क पर सामाजिक वातावरण के प्रभाव का अत्यन्त सुंदर चित्रण किया गया है। चरित्र-चित्रण, विशेषकर नायक और नायिका का चरित्र-चित्रण, बहुत ही प्रभावोत्पादक है। प्रेम और अविश्वास के दो पाटों के बीच पिसते नवकुमार के हृदय की पीडा का बड़ा ही मार्मिक अंकन किया गया है। कथावस्तु मन को बाधनेवाली है। कुल मिलाकर 'कपालकुण्डला' गद्य मे रचित कविता है। यह कथा शिल्प की आवश्यकताओं के प्रति एक उच्चकोटि के काव्य प्रतिभा सम्पन्न लेखक की सुंदर प्रतिक्रिया है। आज के युग मे जब कथा-साहित्य जीवन से भी अधिक शुष्क हो चुका है और कविता उससे छिटक कर दूर जा चुकी है, ऐसी रचनाओं को पढ़कर बड़ा आनंद आता है।

बंकिम का तीसरा उपन्यास 'मृणालिनी' (1869) कलात्मकता की दृष्टि से उतना महत्त्वपूर्ण नही है जितने उनके पहले दो उपन्यास, लेकिन वह कुछ अन्य दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। जब उन्होंने यह उपन्यास लिखा, तो उनकी उम्र लगभग तीन वर्ष की थी और वह उपन्यासकार के रूप मे काफी नए थे। लेकिन

सोद्देश्यता की भावना, जो आगे चलकर उनकी कृतियों—कथासाहित्य और अन्य साहित्य मे अत्यंत प्रखर रूप में सामने आई और जिसके कारण उन्हें राष्ट्रनिर्माताओ मे गिने जाने का गौरव प्राप्त हुआ, संभवत. उनके जीवन के उस प्रारम्भिक चरण में ही उन पर प्रभुत्व जमा चुकी थी। 'मृणालिनी' बंकिम की देशभक्ति की भावना की प्रथम सायास अभिव्यक्ति है।

'दुर्गेशनन्दिनी' की तरह 'मृणालिनी' भी ऐतिहासिक कथानक को लेकर लिखा गया है। इसका कथानक केवल सत्रह घुड़सवारो की सहायता से बख्तियार खिलजी द्वारा बंगाल-विजय करने की तथाकथित घटना के गिर्द घूमता है। मगध के राज्यच्युत राजकुमार हेमचन्द्र को उसके गुरु माधवाचार्य न केवल खोई हुई अपनी राजसत्ता को फिर से प्राप्त करने का काम सौंपते हैं बल्कि बंगाल पर संभाव्य आक्रमण का डटकर मुकाबला करने का भी आदेश देते हैं, जिसका अर्थ था देश को विदेशियो के शासन से मुक्त कराना। यह माधवाचार्य के जीवन का ध्येय था और वह इस सम्बन्ध मे दृढ संकल्प और अविचल थे। यवन आक्रमणकारियों से मातृभूमि को स्वतंत्र कराने के महान कार्य को सम्पन्न करने के लिए उनकी दृष्टि मे मगध का राजकुमार ही उपयुक्त माध्यम था। हेमचन्द्र स्वयं भी इस कार्य के प्रति गहरी निष्ठा रखता था, लेकिन मृणालिनी के प्रति उसका उत्कट प्रेम कभी-कभी उसके सकल्प को कमजोर कर देता और उसका ध्यान उस महान कार्य से हटा देता था। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए माधवाचार्य सभी संभव उपाय करता है लेकिन अन्तत. वह अपने ध्येय में असफल रहता है। गौड़ (बंगाल) के राजा के मुख्यमत्री पशुपति के विश्वासघात के कारण बख्तियार खिलजी केवल सत्रह घुड़सवारों की सहायता से, जिनकी मदद के लिए 25,000 सैनिक निकट ही घने जंगलों मे छिपे हुए थे, राज्य को जीत लेता है।

देश को विदेशी पराधीनता और निरंकुश शासन से मुक्त करने के लिए पूर्णतः समर्पित माधवाचार्य को आनन्दमठ ([illegible]) के [illegible] का प्रारंभिक पूर्वाभास कहा जा सकता है। इस उपन्यास में [illegible] की भावना अत्यंत स्पष्ट [illegible] नही मिली, लेकिन [illegible] माधवाचार्य आशावादी [illegible] देने योग्य है। बंकिम ने [illegible] केवल सत्रह घुड़सवारों [illegible]

थी। कई वर्ष बाद उन्होंने बहुत से लेख (विविध प्रबंध, भाग-2) लिखे, जिनमें ऐतिहासिक पुनर्निर्माण की अपनी उत्कट इच्छा के कारण उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि इतनी आसानी से विजय प्राप्त करने की यह आश्चर्यजनक कथा कपोल-कल्पित है। उनका यह दृढ मत था कि सत्रह घुड़सवारों की बात तो दूर रही, बख्तियार कही बड़ी सेना की सहायता से भी संपूर्ण बगाल पर विजय नही पा सकता था। उनके अनुसार पठानों ने केवल जहां-तहां अपनी सैनिक बस्तियां स्थापित की, लेकिन वह सम्पूर्ण बंगाल पर कभी भी अपना आधिपत्य नही जमा सके थे।

यहा प्रश्न यह उठता है कि बंकिम ने 'मृणालिनी' के लिए इस कथानक को क्यो चुना, जिस पर वह स्वय विश्वास नहीं करते थे और जिसका खंडन आगे आने वाले बहुत से इतिहासकारों ने किया है। हो सकता है कि वह यह दिखाना चाहते हो कि बगाल का पठानो पर शासन वहा की जनता मे साहस या वीरता के अभाव के कारण नही हुआ, बल्कि पशुपति जैसे पथभ्रष्ट व्यक्तियों के विश्वासघात के कारण हुआ, जिन्होंने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए देश की स्वाधीनता का सौदा करने मे भी सकोच नही किया। यही नही, इस पुस्तक मे इसका भी सकेत है कि 25,000 पठान सैनिक निकट ही जगल मे छिपे हुए थे। विश्वासघात के कारण खोल दिए गए राजमहल के द्वार से जब सत्रह घुड़सवार प्रवेश कर रहे थे, तब उनके पीछे-पीछे 25,000 सैनिकों ने प्रवेश किया और लूटमार और तहस-नहस करके राजमहल पर कब्जा कर लिया। चाहे जो हो 'मृणालिनी' की रचना से मुख्य उद्देश्य अर्थात देशभक्ति की भावना उत्पन्न करने के उद्देश्य की बहुत हद तक पूर्ति हुई।

5. रचनात्मक चिन्तक

बंकिम के सेवा-काल मे बहरमपुर एक अविस्मरणीय नाम है। दिसम्बर, 1869 मे वहा तबादले के बाद उन्होंने अपने जीवन के सर्वाधिक रचनात्मक चरण मे प्रवेश किया। बहरमपुर, जो एक जिला नगर था, उन दिनों विशिष्ट वर्ग का केन्द्र था। यो कहिए कि वहा लेखको और बुद्धिजीवियो का एक ऐसा जमघट था जिसने अपने-अपने क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त कर रखी थी। बंकिम सामान्यत दूसरों के साथ बंधकर चलने वाले व्यक्ति नही थे। वह आत्मप्रबुद्ध थे और कहा जा सकता है कि उनमें समुचित गर्व का भाव भी था। लेकिन बहरमपुर मे उन्हें समान रुचि वाले व्यक्तियों की संगति मिली और शीघ्र ही वह उनके केन्द्रबिन्दु बन गए। बहरमपुर मे उन दिनों उपस्थित महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो मे गुरुदास बंद्योपाध्याय (जो बाद मे कलकत्ता हाईकोर्ट के जज बने), भूदेव मुखोपाध्याय, दीनबन्धु मित्र, रामगति न्यायरत्न, राजकृष्ण मुखोपाध्याय और अन्य कुछ सम्मिलित थे। वे सभी उन दिनो के प्रमुख बुद्धिजीवी थे। वे परस्पर मिलते थे और विचार-विमर्श करते थे। सजातीय व्यक्तियों की इस मडली मे रहते हुए बंकिम के मन मे एक ऐसी बंगला पत्रिका प्रकाशित करने का विचार उत्पन्न हुआ, जो उत्कृष्टता में पश्चिमी मानदंडों के अनुरूप हो। मणि बागची ने लिखा है कि महारानी स्वर्णमयी देवी के दीवान राजीव लोचन राय ने इस उद्देश्य के लिए बंकिम को 1000 रुपए की धनराशि अर्पित की।* इस प्रकार सन् 1872 मे बंकिम के प्रेरणादायक सम्पादन में 'बंगदर्शन' का प्रकाशन आरंभ हुआ। यह प्रयास सफल रहा और यह पत्रिका वस्तुतः साहित्यिक पुनरुज्जीवन की अद्वितीय प्रवर्त्तक सिद्ध हुई।

19 वी शताब्दी के आरंभ मे बंगाल मे बहुत-सी पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ हो गया था। गंगाधर भट्टाचार्य का बंगाल गजट (1816) बंगला पत्र-पत्रिकाओ के इतिहास मे एक अपेक्षाकृत अनजाना नाम रहा। लेकिन 1818 में श्रीरामपुर के मिशनरियो द्वारा 'दिग्दर्शन' मासिक और 'समाचार दर्पण' साप्ताहिक के प्रकाशन से बंगला पत्रकारिता ने तेजी से प्रगति की ओर कदम बढ़ाया। इनके बाद 1821 में राममोहन राय के प्रगतिशील साप्ताहिक 'सवाद

* बंकिमचन्द्र, सं मणि बागची

कौमुदी' और उसके मुकाबले 1822 में भवानी चरण वंद्योपाध्याय की कट्टर-पन्थी पत्रिका 'समाचार चन्द्रिका' का प्रकाशन आरंभ हुआ। उसके बाद पत्रिकाओं की एक श्रृखला आरभ हो गई 'संवाद प्रभाकर' (1831) जिसमें लिखकर स्वयं बंकिम ने उपयोगी प्रशिक्षण प्राप्त किया, 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका (1843), जिसका प्रकाशन तत्त्वबोधिनी सभा के तत्वावधान में हो रहा था, जिसका नेतृत्व देवेन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महान नेता कर रहे थे, 'सर्वशुभकारी पत्रिका' (1850) जिसके संस्थापक ईश्वरचन्द्र विद्यासागर थे, 'विविधार्थसंग्रह' (1867) जिसका सम्पादन राजेन्द्रलाल मित्र कर रहे थे, और जिसमे इतिहास, कला और पुरातत्त्व विषयक सामग्री होती थी। इनके अतिरिक्त अन्य पत्रिकाओं का प्रकाशन भी हो रहा था, जिनको गिनाना यहा आवश्यक नही है। इन सबमें से 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका श्रेष्ठ थी हालांकि जनसाधारण के स्तर से यह कुछ ऊपर थी।

अपनी-अपनी विशिष्टताओ के बावजूद इन सब मे से कोई भी पत्रिका भावनात्मक गरिमा और बौद्धिक सजीवता की दृष्टि से उतनी लोकप्रिय नही हो पाई जितनी कि 'बंगदर्शन'। 'बंगदर्शन' के माध्यम से बंकिम ने ज्ञान को उच्च शिक्षितों की कारा से मुक्त करा कर जन-सामान्य तक पहुंचाया। इस पत्रिका मे बंकिम ने अपनी सर्वोत्कृष्ट रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया। उन्होंने स्वय इस पत्रिका मे विभिन्न वर्गो के पाठकों की रुचि के उपन्यास, निबन्ध, व्यंग्य-लेख, हास्य रेखा चित्र और प्रभावकारी पुस्तक समीक्षाए लिखी। उनकी बहुमुखी प्रतिभा आश्चर्यजनक थी। वह एक ही साथ गम्भीर, हल्के-फुल्के, भावनात्मक तथा बौद्धिक साहित्य का सृजन कर रहे थे। साहित्य की विभिन्न विधाओ मे उनकी समान गति थी। उनके मित्रों और साथी-लेखकों ने भी उनके प्रगतिशील सम्पादन मे इस पत्रिका मे काफी सख्या मे अपनी रचनाए प्रकाशित कराई, लेकिन पत्रिका की प्रकाशित सामग्री का काफी बड़ा भाग बंकिम स्वय लिखते थे। इसके अतिरिक्त वह एक आचारनिष्ठ और सिद्धातवादी सम्पादक थे। वह दूसरो की रचनाओं का भी पूरी तरह पुनरीक्षण करते थे। यहा तक कि कई बार पूरी रचना स्वय पुन: लिखते थे। इस प्रकार पत्रिका में जो कुछ भी छपता था, उस पर बंकिम के व्यक्तित्व की अचूक छाप रहती थी। 'बंगदर्शन' बंगला पत्रकारिता के विकास में एक मील का पत्थर सिद्ध हुई। इसने वह करिश्मा कर दिखाया, जो इससे पहले की पत्रिकाएं करने मे असफल रही थी। इसने

भावनात्मक ही नही वैचारिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप मे बगला भाषा की विपुल क्षमताओं को उजागर कर दिया। भाषा की प्राजलता को सुरक्षित रखते हुए उन्होंने एक ऐसी शैली विकसित की, जिसको लोग समझ सकते थे और जो उनके मन को छूती थी। 'वंगदर्शन' के मासिक अको मे उपन्यासों और व्यंग्य लेखो के अतिरिक्त इतिहास, विज्ञान, साहित्य और पुरातत्त्व आदि विषयों पर गंभीर लेख भी छपते थे। इसने पाठकों के सामने एक नए क्षितिज के द्वार खोल दिए। श्री विपिनचन्द्र पाल का कहना है, 'वंगदर्शन' ने समसामयिक बंगला चिन्तन के लिए वही किया, जो अठारहवी शताब्दी में यूरोपीय चिन्तन और फ्रांसीसी साहित्य के लिए फ्रांस के विश्वकोषकारों ने किया था। * 'वंगदर्शन' द्वारा स्थापित पत्रकारिता के उच्चमानदण्डों का अनुसरण उसके बाद की कई पत्रिकाओं ने किया।

पुस्तक समीक्षाएं इस पत्रिका की एक विशेषता थी। बंकिम अधिकाश समीक्षाएं स्वयं लिखते थे और आधुनिक परिपाटी पर पुस्तक समीक्षाएं लिखना सम्भवतः उन्होंने ही आरम्भ किया। समीक्षा के रूप मे बंकिम वस्तुत. अच्छी पुस्तकों की उदारता से प्रशंसा करते थे, लेकिन हल्की-पुस्तको या उदासीनता से लिखी हुई पुस्तको की कटु आलोचना करते थे। यह कहा जाता है कि पुस्तको की समीक्षा करते समय उनके एक हाथ मे फूलों का गुलदस्ता होता था और दूसरे में झाड़ू।** इसके अतिरिक्त वह बाजारू भाषा और हल्केपन के प्रति बहुत कटु थे और साहित्य में सोद्देश्यता के समर्थक थे, यही नही उसे वह साहित्यिक रचनाओ के लिए आवश्यक मानते थे। इस प्रकार की नियमनिष्ठ निष्पक्षता और उच्च आदर्शवाद के कारण इस पत्रिका और इसमे प्रकाशित पुस्तक समीक्षाओ का आदर बढ़ा और इसने साहित्यिक पथप्रदर्शक का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार चार वर्ष तक लगातार 'वंगदर्शन' निर्विवाद रूप से समसामयिक विचारधारा को प्रभावित करती रही। इसके माध्यम से अपने पाठकों के सम्मुख बंकिम एक ऊंचे दर्जे के रचनात्मक विचारक के रूप में उभर कर सामने आए। यह पत्रिका पहले कलकत्ता से और उसके बाद काठालपाड़ा से प्रकाशित हुई। बंकिम इसका सम्पादन करते थे और संजीव मुद्रण और साज-सज्जा का काम देखते थे।

* माई लाइफ एड टाइम्स

** बंकिमचन्द्र, अक्षयदत्त गुप्त

इस पत्रिका के प्रकाशन के पीछे बंकिम का क्या उद्देश्य था ? परिचयात्मक टिप्पणी में उन्होंने शिक्षित बंगालियों द्वारा अपनी मातृभाषा की उपेक्षा के प्रति खेद व्यक्त करते हुए लिखा, "हमारा उद्देश्य इस पत्रिका को एक साथ बुद्धिजीवियों का प्रवक्ता और जनसामान्य तक मातृभाषा में ज्ञान के प्रसार का माध्यम बनाना है।" ऐसी बात नहीं कि बंकिम अंग्रेजी के प्रशंसक न रहे हों। वस्तुतः जिस अवधि में उनकी बदली बहरमपुर हुई, उन दिनों भी उन्होंने अंग्रेजी में कई लेख लिखे, जिनमें 'ए पॉपुलर लिट्रेचर फॉर बंगाल' और 'ऑन दी ओरिजन ऑफ

चन्द्र मुखर्जी को लिखा, "मैंने स्वयं एक बंगला पत्रिका के प्रकाशन की योजना बनाई है, जिसका उद्देश्य इसे शिक्षित और अशिक्षित वर्गों के बीच संचार और सहानुभूति का माध्यम बनाना है... मेरे विचार में हमें कुछ सीमा तक अंग्रेजियत से छुटकारा पाना चाहिए और जन-साधारण से उस भाषा में बातचीत करनी चाहिए जिसे वे समझते हों।" *

बंकिम की प्रशस्ति करते हुए रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने इस प्रकार लिखा है: "बंकिम ने जो महान कार्य अपने ऊपर लिया है, उसे सम्पन्न करना किसी और के वश का नहीं था... चूंकि बंकिम ने सृजन और समीक्षा के दोहरे उत्तरदायित्व का निर्वाह अकेले किया, इसीलिए बंगला साहित्य की इतनी तेजी से प्रगति हुई... मुझे याद है जब बंकिम ने 'बंगदर्शन' में समीक्षक की भूमिका संभाली, तो उनके छोटे-छोटे अनन्त शत्रु बन गए। सैकड़ों अयोग्य व्यक्ति उनसे ईर्ष्या करने लगे। वे बंकिम की प्रतिष्ठा को गिराने का कोई भी अवसर हाथ से नहीं जाने देते थे... लेकिन बंकिम अपने कर्त्तव्य से कभी विमुख नहीं हुए... बंकिम साहित्य के क्षेत्र में एक कर्मयोगी थे।"**

बंगदर्शन में उनकी कई महत्वपूर्ण रचनाएं, 'विषवृक्ष', 'इन्दिरा' (बाद में वृहत् आकार में छपी), 'युगलांगुरीय', 'चन्द्रशेखर', 'कमलाकान्तेर दप्तर' (बाद

* बंकिम्स वर्क्स, सेन्टेनेरी एडीशन, बंगीय साहित्य परिषद्

** आधुनिक साहित्य

में कमलाकात के रूप में वृहत् आकार में प्रकाशित) आदि धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुईं। लेकिन इस पत्रिका में प्रकाशित उनके निबन्ध अद्वितीय थे। ये निबन्ध विभिन्न विषयों जैसे ऐतिहासिक, समीक्षात्मक, समाजशास्त्रीय, वैज्ञानिक तथा अन्य विषयो से सम्बद्ध थे। इनमे उस समय की विभिन्न समस्याओ का भौतिक समाधान प्रस्तुत किया गया था। इस प्रकार इनमें बंकिम एक उच्चकोटि के चिन्तक के रूप मे सामने आए।

यहा 'विषवृक्ष' का उल्लेख अनिवार्य है, यह उनके उस समय का सबसे महत्त्वपूर्ण उपन्यास था। यह 1873 मे पुस्तक के रूप मे प्रकाशित हुआ। यह महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि यह एक विशुद्ध सामाजिक उपन्यास है जिसमे बंकिम उच्च रोमाटिक धरातल से प्रतिदिन के यथार्थ के धरातल पर उतर आए थे। वह कृति सामाजिक परिवेश से ओतप्रोत थी।

कहानी इस प्रकार है कि एक सम्पन्न जमींदार नगेन्द्र नाथ एक बार नौका भ्रमण कर रहे थे। उस समय कुछ ऐसी घटना घटी कि उन्हें कुन्द-नन्दिनी नामक एक युवा अनाथ लड़की के सरक्षण का भार अपने ऊपर लेना पड़ा। उस लड़की को वह घर ले आए और उसे अपनी सुन्दर और अत्यन्त स्नेहमयी पत्नी सूर्यमुखी को सौंप दिया। बाद में उन्होंने उसका विवाह ताराचन्द से कर दिया, जिसे सूर्यमुखी अपने भाई के समान मानती थी। कुछ समय बाद ताराचन्द की मृत्यु हो गई और कुन्द छोटी उम्र मे ही विधवा हो गई। दूसरी ओर नगेन्द्र जो हालाकि सूर्यमुखी की पति-भक्ति से प्रसन्न था, फिर भी कुन्द से प्रेम करने लगा और विधवा होने के बावजूद उसने उससे विवाह कर लिया। सूर्यमुखी को इससे गहरा आघात लगा और वह निराश होकर घर छोड़ कर चली गई। अब नगेन्द्र को सूर्यमुखी की निष्ठा-पूर्ण भक्ति की उपेक्षा करके दूसरा विवाह करने की अपनी भूल का अहसास हुआ। पश्चाताप की भावना से पीड़ित नगेन्द्र सूर्यमुखी की तलाश में निकल पड़ा, लेकिन वह उसे ढूढने मे सफल नही हुआ और घर लौट आया। इसी बीच नगेन्द्र के प्रति उत्कट प्रेम के कारण विवश होकर सूर्यमुखी स्वयं ही घर लौट आई। इस प्रकार उनका फिर से सुखद मिलन हो गया। ठीक उसी समय एक दुर्घटना घटी जो कि उन परिस्थितियों में अनिवार्य थी। भयंकर अन्तर्द्वन्द्व में फसी कुन्द ने आत्महत्या कर ली और इस प्रकार इस असुखद प्रेम-प्रसग का अन्त हुआ। उपन्यास मे उन दिनो की सबसे ज्वलन्त सामाजिक

समस्या अर्थात विधवा के पुनर्विवाह को, जिसे बहुत वाद-विवाद के बाद मुख्यतः ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्नों से कानूनी स्वीकृति मिली थी, उठाया गया है। इस उपन्यास में एक उपन्यासकार के रूप में बंकिम के दृष्टिकोण में एक निश्चित परिवर्तन परिलक्षित हुआ। उनका अगला उपन्यास 'इन्दिरा' (1873) भी एक सामाजिक कथानक पर आधारित है। 'कमलाकान्तेर दप्तर' जो कि बाद में 'कमलाकान्त' के रूप में वृहत् आकार में प्रकाशित हुआ, उस अवधि की एक महत्त्वपूर्ण रचना थी। एक आलसी अफीमची के कथानक को लेकर 'कमलाकान्त' की भावुकतापूर्ण रचना के माध्यम से बंकिम ने अपनी गहरी सामाजिक चेतना का परिचय दिया।

उन्हीं दिनो बंकिम ने प्रारंभिक भारतीय असैनिक अधिकारियो मे से एक और अपने से दस वर्ष कनिष्ठ अधिकारी रमेशचन्द्र दत्त को बंगला में लिखने के लिए ठीक वैसे ही प्रेरित किया, जैसे ड्रिंकवाटर बेथुन ने माइकेल मधुसूदन दत्त को प्रेरित किया था। कनिष्ठ असैनिक अधिकारी रमेशचन्द्र दत्त ने बंकिम के उपन्यासो के कुछ चरित्रों की प्रशंसा की। उस समय बंकिम ने कहा, "अगर आपको बंगला साहित्य पसन्द है, तो आप बंगला मे क्यो नही लिखते?" एक और अवसर पर बंकिम ने रमेशचन्द्र से कहा, "अंग्रेजी कृतियो के सहारे आपका नाम जीवित नही रहेगा।" इसके ठीक दो वर्ष के भीतर दत्त की पहली बंगला रचना, एक ऐतिहासिक उपन्यास, प्रकाशित हुई और अंग्रेजियत से प्रभावित वह असैनिक अधिकारी शीघ्र ही बंकिम युग के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपन्यासकारों मे से एक गिना जाने लगा।*

बंकिम के बहरमपुर निवास के युग में एक अत्यन्त रोचक घटना घटी। वह पालकी मे बैठकर कार्यालय से लौट रहे थे। पालकी का एक दरवाजा बंद था। जैसे ही वह एक सैनिक बैरक के पास पहुंचे, जहा कुछ यूरोपीय सैनिक क्रिकेट खेल रहे थे, उन्हें पालकी के दरवाजे पर खटखटाहट की आवाज सुनाई दी। बंकिम कूद कर नीचे आए और दरवाजा खटखटाने वाले व्यक्ति को ललकारा। वह व्यक्ति और कोई नही छावनी का यूरोपीय कमांडिंग आफिसर कर्नल डफिन था, जो संभवतः एक देशी व्यक्ति के यूरोपीय बैरकों के क्षेत्र से गुजरने के कारण क्रुद्ध था। लेकिन इस प्रकार चुनौती दिए जाने

* कल्चरल हेरिटेज आफ बंगाल एण्ड आर. सी. दत्तस् आर्टिकल आन बंकिम, 'नवभारत पत्रिका' वैशाख 1301 (बंगला सं.)

पर और वह भी एक देशी व्यक्ति द्वारा, डफिन ने बंकिम का हाथ पकड़ कर पीछे की ओर धकेल दिया। यह बंकिम के लिए बहुत अपमान की बात थी। बिना इस बात की चिन्ता किए कि डफिन शासक वर्ग का है और एक सैनिक अधिकारी है, जिनसे उन दिनों भारतीय बहुत भय खाते थे, बंकिम ने न्यायालय में उस पर मुकदमा दायर कर दिया। कोई भारतीय डिप्टी कलेक्टर एक यूरोपीय सैनिक अधिकारी पर मुकदमा करे—यह एक अभूतपूर्व घटना थी। बहरमपुर में चारो ओर सनसनी फैल गई। वस्तुतः डफिन के विरुद्ध इतना तीव्र जनमत हो गया कि किसी भी वकील ने उस यूरोपीय कर्नल के मुकदमे की पैरवी करना मंजूर नही किया। उसके सामने गंभीर समस्या खड़ी हो गई। अन्ततः डफिन को खुले न्यायालय में बहुत से दर्शकों के सामने, जिनमें भारतीय और यूरोपीय दोनों थे, बंकिम से माफी मागनी पड़ी। यह एक अन्य उल्लेखनीय उदाहरण था जब बंकिम ने अपने चरित्र की दृढता, स्वतंत्रता और निर्भीकता का परिचय दिया।

बहरमपुर मे बंकिम प्रसन्न और अत्यन्त लोकप्रिय थे। सरकारी क्षेत्रो मे भी उनको अत्यन्त उपयोगी माना जाता था, क्योंकि अधिकारी उन्हें वहा से भेजने के लिए बिल्कुल तैयार नही थे। लेकिन अन्ततः उन्होंने फरवरी, 1874 में छुट्टी ली और बहरमपुर छोड़ कर कांठालपाड़ा वापिस आ गए। बहरमपुर में उनके ये चार वर्ष उपलब्धि और लोकप्रियता दोनो ही दृष्टियों से उनके जीवन के स्वर्णिम वर्ष थे। वहां उनके दुख का केवल एक कारण बना और वह था उनकी माता की मृत्यु। इसके अलावा पारिवारिक मतभेद, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, जो धीरे-धीरे सुगबुगा रहा था।

उसके बाद उनकी कई बार बदलियां और नियुक्तियां हुई। मई, 1874 में वह बारासत मे थे और उसके बाद उसी साल अक्तूबर में मालदा में। स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण वह नौ महीने की छुट्टी लेकर वापिस आ गए। उसके बाद उनकी बदली हुगली (मार्च, 1876) मे हुई, जहां वह लगातार 1881 के प्रारंभ तक रहे। यह अवधि साहित्यिक दृष्टि से भी अच्छी रही। उनकी पदोन्नति भी हुई और वह बर्दमान के मंडल-आयुक्त के निजी सहायक के रूप में नियुक्त हुए। उन दिनों यह पद कोई मामूली पद नही था।

उस समय एक हृदयद्रावक घटना हुई जो बंगला साहित्यिक क्षेत्र के लिए बहुत दुखद सिद्ध हुई। मार्च, 1876 मे वकिम ने अचानक 'बंगदर्शन' का प्रकाशन बद कर दिया। इससे उस पत्रिका के सैकड़ों पाठकों के मन को भारी धक्का लगा और उनके बीच निराशा का वातावरण छा गया। बंकिम ने एक और काम किया। बजाय इसके कि वह अपने गांव के घर में रह कर प्रतिदिन नदी पार हुगली स्थित अपने कार्यालय मे जाते, उन्होंने अपना घर हुगली में बसा लिया। इसका कारण घरेलू मतभेद थे। लेकिन प्रश्न यह है कि उन्होंने अपनी प्रगतिशील पत्रिका को परिपक्व अवस्था मे बद क्यों कर दिया? उन्होने स्वय 'बगदर्शन' के विदाई सदेश मे इस संबंध में जो स्पष्टीकरण दिया वह इस प्रकार था—"चूकि 'बगदर्शन' का उद्देश्य पत्रिकाओ मे उच्चकोटि की पत्रकारिता का विकास करना था और अब कई अच्छी पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही हैं, इसलिए 'बंगदर्शन' को जारी रखने की अब कोई विशेष आवश्यकता नही है।" यह स्पष्टीकरण युक्तिसगत प्रतीत नही होता। इस सम्बन्ध में एक मत यह है कि बंकिम की निर्भीक साहित्यिक आलोचनाओ के कारण उनके बड़ी संख्या में शत्रु हो गए थे। यहा तक कि उनकी हत्या की योजनाएं भी बनाई गई थी। यह मत भी तर्कसगत नही है क्योकि वकिम बहुत दिलेर थे और वह किसी से डर कर अपने प्रशासनिक या साहित्यिक कर्त्तव्यो के निर्वाह मे पीछे हटने वाले नही थे। यह संभव है कि उन दिनों उन पर सरकारी उत्तरदायित्वों का भार इतना अधिक बढ गया था कि उन्हें इस प्रकार की गभीर पत्रिका के लिए यथेष्ट समय न मिलता हो; या फिर पारिवारिक झगडों की इस मामले मे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही हो। इस विचार को दो तथ्यों से बल मिलता है। 'बंगदर्शन' का प्रकाशन बंद होने के तुरत बाद वकिम ने अपने गांव के घर को छोड़ कर हुगली में अपना घर बसाया। स्पष्टत. पारिवारिक झगड़ो के कारण उन्होने ऐसा किया। दूसरे, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, प्रारंभ से ही पत्रिका के मुद्रण और साज-सज्जा का कार्य संजीव देखते थे। इसलिए जब 'बंगदर्शन' के पुनः प्रकाशन का प्रश्न सामने आया तो वकिम ने उसके समस्त अधिकार सजीव को दे दिए, जिसने उसका प्रकाशन स्वय अपने संपादन मे, निस्संदेह वकिम के पूरे सहयोग से, प्रारभ किया। बकिम की बाद की कुछ कृतिया जैसे 'आनदमठ', पुनः प्रकाशित 'बंगदर्शन' मे छपी।

इतिहास की उज्ज्वल झांकियों का प्रभाव अब भी उनके मन पर शेष था, यह उनकी रचना 'राजसिंह' से स्पष्ट हो जाता है जो बाद में इसी नाम से प्रकाशित वृहत् उपन्यास का आधार बनी और जो उनकी सर्वाधिक प्रशंसित साहित्यिक कथा रचना थी। यह पुस्तक 1882 मे प्रकाशित हुई थी। इसमें सामाजिक चेतना अधिक मुखर थी। इस अवधि में उन्होंने सामाजिक पृष्ठ-भूमि को लेकर छोटे-बड़े कई उपन्यास लिखे जिनमें 'रजनी', फूल बेचने वाली दृष्टिहीन लडकी की अनुपम कथा सम्मिलित है। यह प्रेम, निराशा और अन्ततः सफलता की मनोरम कथा है। फूल बेचने वाली दृष्टिहीन लड़की रजनी एक अमीर आदमी के घर फूल देने जाती थी। परिवार के सबसे छोटे लड़के के सहानुभूतिपूर्ण संस्पर्श और मधुरवाणी से उसके मन में उसके प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है। कुछ समय बाद उससे उसका विवाह भी हो जाता है। लेकिन उससे पहले उसे बहुत ही कठिन परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है। अत मे एक सन्यासी की रहस्यमय शक्ति की सहायता से उसे पुनः दृष्टि प्राप्त हो जाती है। रजनी के चरित्र और लार्ड लिटन की 'द लास्ट डेज ऑफ पम्पियाइ' (1834) की नाडिया के चरित्रो मे स्पष्ट समानता दिखाई पड़ती है। बकिम को भी इसका ज्ञान था। लेकिन यहा भी यह समानता ऊपरी है। केवल इसलिए कि रजनी और निडिया दोनो दृष्टिहीन और फूल बेचने वाली लड़किया थी, वे एक-दूसरे के समान नही हो जाती। प्रेम और ईर्ष्या के अपने जन्मजात दृढ़ संस्कारो के कारण निडिया प्रकृति से चचल है जिसके कारण वह विनयशील रजनी से बिल्कुल भिन्न हो जाती है। सत्य तो यह है कि बंकिम ने अपने उपन्यास मे लिटन के घटना प्रधान गौरव ग्रथ से बिल्कुल भिन्न प्रयास किया है। रजनी बकिम का एक उस प्रकार का प्रयोग कहा जा सकता है जिसे आगे चलकर मनोवैज्ञानिक कथा साहित्य का नाम दिया गया।

'कृष्णकान्तेर विल' की जिसे बहुत से लोग उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं, रचना नौ महीने के उस अवकाश मे हुई, जब वह सरकारी उत्तर-दायित्वो से मुक्त थे। यह 'बंगदर्शन' मे उस अवधि को छोड़कर, जब उसका प्रकाशन बन्द था, धारावाहिक रूप में छपा। यह उपन्यास 'विषवृक्ष' से, जो इसका निकटतम समानान्तर है, कही अधिक मंजा हुआ है। 'विषवृक्ष' की भाति इसमें भी विधवा की कथा बंकिम के मस्तिष्क पर छाई हुई थी।

गोविन्द लाल हरिद्राग्राम के एक सम्पन्न जमींदार कृष्णकान्त का भतीजा है। रोहिणी एक बाल विधवा है, जो उसी गांव में रहती है। गोविन्द लाल की अपनी स्नेहमयी युवा पत्नी है भ्रमर। गोविन्द लाल अपने चाचा का, जो एक प्रकार से उसके सरक्षक हैं, आज्ञाकारी है। वह रोहिणी के मोहजाल में फंस जाता है और उसे पाने के लिए उन्मत्त हो जाता है। कृष्णकान्त, जिन्होंने अपनी आधी सम्पत्ति की वसीयत गोविन्द लाल के नाम लिख दी थी, दुखी होकर उस वसीयतनामे को रद्द करके सारी सम्पत्ति भ्रमर के नाम कर देते हैं। इससे गोविन्द लाल अपनी पत्नी से और भी विमुख हो जाता है। इस बीच कृष्णकान्त का निधन हो जाता है। सम्पत्ति छिन जाने पर रोहिणी के प्रेम में पागल गोविन्द लाल अपनी पत्नी भ्रमर को हरिद्राग्राम में अकेला छोड़ कर बिना कुछ बताए वहां से कहीं चला जाता है। इसी बीच रोहिणी भी गाव से गायब हो जाती है। फिर वे दोनों प्रसादपुर नामक स्थान पर एक साथ रहने लगते हैं। भ्रमर अकेली अपने पति की प्रतीक्षा में तड़पती रहती है। भ्रमर का पिता अपने एक मित्र निशाकर को गोविन्द लाल को रोहिणी के प्रेमपाश से छुड़ाने के लिए भेजता है। प्रसादपुर में निशाकर कुछ ऐसी चाल चलता है कि एक दिन रात के समय एक तालाब के किनारे रोहिणी उसके साथ अकेली होती है। यह देख कर गोविन्द लाल के मन में ईर्ष्या की अग्नि भड़क उठती है और वह रोहिणी को गोली मार देता है, जिससे वह मर जाती है। लेकिन उसका ससुर बड़ी चतुराई से गवाहों को तोड़ कर गोविन्द लाल को दंड से बचा लेता है। फिर गोविन्द लाल एक निर्वासित व्यक्ति की तरह लम्बे अर्से के बाद घर लौटता है। जहा मृत्यु शय्या पर पीड़ा से छटपटा रही अपनी पत्नी से उसकी आखिरी भेंट होती है।

चुचुड़ा (हुगली) में बंकिम का घर गंगा के किनारे पर था, जहा से वह रात के समय नदी के मंत्रमुग्ध कर देने वाले सौंदर्य को निहारते रहते थे। बहरमपुर की भाति हुगली में भी उनके मनपसन्द साथी थे, जिनमे भूदेव मुखोपाध्याय भी सम्मिलित थे, जो उन दिनो के प्रसिद्ध लेखक और विचारक थे।

अपने नौ महीने के अवकाश की अवधि मे बंकिम समय-समय पर कलकत्ता जाते थे जहां उनकी एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति से भेंट हुई। राजा सुरेन्द्र मोहन ठाकुर के निवास स्थान 'एमरेल्ड बोवेर' पर आयोजित कालेज के एक पुनर्मिलन

समारोह मे युवा साहित्यकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर से पहली बार भेंट हुई, जब बंकिम अपने साहित्यिक जीवन की पराकाष्ठा पर थे।*

बाद मे किसी सामाजिक-धार्मिक मामले को लेकर बंकिम और रवीन्द्र मे सार्वजनिक रूप से विवाद हो गया था, पर उनमे परस्पर एक दूसरे के प्रति प्रशंसा की भावना कभी कम नही हुई। सच तो यह है कि रवीन्द्रनाथ बंकिम के सबसे अधिक सहिष्णु आलोचक और व्याख्याता थे। एक बार बंकिम रमेश चन्द्र दत्त के घर एक विवाह समारोह मे सम्मिलित होने के लिए आए। वहा रवीन्द्रनाथ भी मौजूद थे, जिनका पहला महत्त्वपूर्ण काव्य-सग्रह 'साध्य-गीत' कुछ ही समय पहले प्रकाशित हुआ था। जब दत्त ने बंकिम के गले मे फूलो की माला डाली, तो बंकिम ने तुरन्त माला निकाल कर युवा रवीन्द्र-नाथ के गले मे यह कहते हुए डाल दी, "रमेश, क्या तुमने इनका (रवीन्द्र-नाथ का) 'साध्य-गीत' पढा है?" यह एक प्रतिभावान व्यक्ति द्वारा दूसरे प्रतिभावान व्यक्ति का सम्मान था।

•

* रवीन्द्र जीवनी, खण्ड 1, पी. के. मुखर्जी

गोविन्द लाल हरिद्राग्राम के एक सम्पन्न जमींदार कृष्णकान्त का भतीजा है। रोहिणी एक बाल विधवा है, जो उसी गांव में रहती है। गोविन्द लाल की अपनी स्नेहमयी युवा पत्नी है भ्रमर। गोविन्द लाल अपने चाचा का, जो एक प्रकार से उसके संरक्षक हैं, आज्ञाकारी है। वह रोहिणी के मोहजाल में फंस जाता है और उसे पाने के लिए उन्मत्त हो जाता है। कृष्णकान्त, जिन्होंने अपनी आधी सम्पत्ति की वसीयत गोविन्द लाल के नाम लिख दी थी, दुखी होकर उस वसीयतनामे को रद्द करके सारी सम्पत्ति भ्रमर के नाम कर देते हैं। इससे गोविन्द लाल अपनी पत्नी से और भी विमुख हो जाता है। इस बीच कृष्णकान्त का निधन हो जाता है। सम्पत्ति छिन जाने पर रोहिणी के प्रेम मे पागल गोविन्द लाल अपनी पत्नी भ्रमर को हरिद्राग्राम में अकेला छोड़ कर बिना कुछ बताए वहा से कही चला जाता है। इसी बीच रोहिणी भी गाव से गायब हो जाती है। फिर वे दोनों प्रसादपुर नामक स्थान पर एक साथ रहने लगते हैं। भ्रमर अकेली अपने पति की प्रतीक्षा में तड़पती रहती है। भ्रमर का पिता अपने एक मित्र निशाकर को गोविन्द लाल को रोहिणी के प्रेमपाश से छुड़ाने के लिए भेजता है। प्रसादपुर मे निशाकर कुछ ऐसी चाल चलता है कि एक दिन रात के समय एक तालाब के किनारे रोहिणी उसके साथ अकेली होती है। यह देख कर गोविन्द लाल के मन मे ईर्ष्या की अग्नि भड़क उठती है और वह रोहिणी को गोली मार देता है, जिससे वह मर जाती है। लेकिन उसका ससुर बड़ी चतुराई से गवाहों को तोड़ कर गोविन्द लाल को दंड से बचा लेता है। फिर गोविन्द लाल एक निर्वासित व्यक्ति की तरह लम्बे अर्से के बाद घर लौटता है। जहा मृत्यु शय्या पर पीडा से छटपटा रही अपनी पत्नी से उसकी आखिरी भेंट होती है।

चुचुड़ा (हुगली) मे बंकिम का घर गंगा के किनारे पर था, जहा से वह रात के समय नदी के मंत्रमुग्ध कर देने वाले सौंदर्य को निहारते रहते थे। बहरमपुर की भाति हुगली मे भी उनके मनपसन्द साथी थे, जिनमे भूदेव मुखोपाध्याय भी सम्मिलित थे, जो उन दिनों के प्रसिद्ध लेखक और विचारक थे।

अपने नौ महीने के अवकाश की अवधि मे बंकिम समय-समय पर कलकत्ता जाते थे जहा उनकी एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति से भेंट हुई। राजा सुरेन्द्र मोहन ठाकुर के निवास स्थान 'एमरेल्ड बोवेर' पर आयोजित कालेज के एक पुनर्मिलन

समारोह मे युवा साहित्यकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर से पहली बार भेट हुई, जब बकिम अपने साहित्यिक जीवन की पराकाष्ठा पर थे।*

बाद मे किसी सामाजिक-धार्मिक मामले को लेकर बकिम और रवीन्द्र मे सार्वजनिक रूप से विवाद हो गया था, पर उनमे परस्पर एक दूसरे के प्रति प्रशसा की भावना कभी कम नही हुई। सच तो यह है कि रवीन्द्रनाथ बंकिम के सबसे अधिक सहिष्णु आलोचक और व्याख्याता थे। एक बार बकिम रमेश चन्द्र दत्त के घर एक विवाह समारोह मे सम्मिलित होने के लिए आए। वहा रवीन्द्रनाथ भी मौजूद थे, जिनका पहला महत्त्वपूर्ण काव्य-सग्रह 'साध्य-गीत' कुछ ही समय पहले प्रकाशित हुआ था। जब दत्त ने बकिम के गले मे फूलो की माला डाली, तो बकिम ने तुरन्त माला निकाल कर युवा रवीन्द्र-नाथ के गले मे यह कहते हुए डाल दी, "रमेश, क्या तुमने इनका (रवीन्द्र-नाथ का) 'साध्य-गीत' पढा है?" यह एक प्रतिभावान व्यक्ति द्वारा दूसरे प्रतिभावान व्यक्ति का सम्मान था।

* रवीन्द्र जीवनी, खण्ड 1, पी. के. मुखर्जी

6. खोज की दिशा में

हुगली से बंकिम का स्थानान्तरण फरवरी, 1881 मे हावड़ा को हो गया। उस समय भी वह मडल-आयुक्त के निजी सहायक के पद पर थे। उसके बाद फिर जल्दी-जल्दी स्थानान्तरणों और नियुक्तियों का सिलसिला चल पडा, जैसा कि उस सेवा में अक्सर होता है, जिसमे बकिम थे। उसी वर्ष बंकिम को गहरा दुख भोगना पड़ा। उनके पिता की मृत्यु हो गई। यह कहा जाता है कि जिस संन्यासी ने बचपन के दिनो मे जादवचन्द्र को पुनर्जीवित किया था, वही संन्यासी फिर एक बार उनकी मृत्यु से कुछ पहले काठालपाडा आया और उनसे मिला, मानो उन्हें यह चेतावनी देने आया हो कि उनके जीवन का अन्त निकट है। उसके कुछ समय बाद ही उनकी मृत्यु हो गई।

बगाल सरकार के अस्थायी सहायक सचिव के रूप मे कलकत्ता मे अपनी नियुक्ति से पहले जब बकिम स्वल्पकाल के लिए हावड़ा में थे, तब वहा उनका तत्कालीन कलेक्टर सी ई. बकलैण्ड से, जो प्रसिद्ध पुस्तक 'बगाल अण्डर द लेफ्टिनेंट गवर्नर्स' के लेखक भी थे, विवाद हो गया। यह घटना रोचक है क्योकि इससे यह पता चलता है कि किस प्रकार एक देशी डिप्टी मजिस्ट्रेट ने एक अभिजात यूरोपीय असैनिक अधिकारी को धता बता कर नौकरशाही औद्धत्य का तुर्की-बतुर्की जवाब देकर उसकी बोलती बन्द कर दी।

तत्कालीन पुलिस की स्वेच्छाचारिता के प्रति सचेत होने के कारण बकिम पुलिस द्वारा दायर किए गए सभी मुकदमो पर विश्वास नही करते थे। वस्तुत जहा कही उन्हें लगता कि मुकदमा कमजोर है, उसे वह खारिज कर देते थे। स्वभावत यह उनके ऊपर के वरिष्ठ अधिकारियो को पसद नही था।

एक बार हावड़ा नगरपालिका ने इस आशय की एक सूचना जारी की कि छत डालने के लिए ज्वलनशील सामग्री का उपयोग करना दण्डनीय होगा। अंग्रेजी मे लिखी इस सूचना का बगला में अनुवाद नगर-

पालिका के एक ऐसे यूरोपीय सचिव ने किया, जिसका बंगला ज्ञान अधकचरा था। कम्बस्टिबल (ज्वलनशील) का अनुवाद उसने गलती से 'जलीय' कर दिया जबकि बंगला मे होना चाहिए था 'ज्वलीय', जिसका अर्थ है ज्वलनशील।

इसके अन्तर्गत अस्सी वर्ष की एक गरीब स्त्री को नोटिस जारी किया गया जिसने अपनी झोपडी की छत मे 'गोलपाता' (बंगाल मे गरीबो द्वारा प्रयोग मे लाए जाने वाले सूखे पत्ते) का प्रयोग कर रखा था। जब उसके पास नोटिस पहुंचा, तो उसने उसे पढा और सोचा कि उसकी झोपडी की छत मे तो कोई 'जलीय' सामग्री लगी नही है। लेकिन अधिकारियो ने यह देखा कि उसकी झोपडी की छत मे शीघ्र ज्वलनशील सामग्री लगी हुई है, तो उसे गिरफ्तार कर लिया गया और उस पर मुकदमा चला दिया गया। उस स्त्री के सौभाग्य से वह मुकदमा बंकिम की कचहरी मे पेश हुआ। उस स्त्री को अब भी यह समझ मे नही आ रहा था कि उसकी झोपडी की छत मे कौन-सी चीज 'ज्वलीय' है। बंकिम ने सारा मामला तुरन्त समझ लिया और उन्होंने नोटिस की अपूर्णता के आधार पर उस स्त्री को छोड दिया।

इस पर कलेक्टर बकलैण्ड महोदय आगबबूला हो गए और उन्होंने बंकिम के निर्णय पर जोरदार प्रतिकूल टिप्पणी लिखी, जिसमे बंगला भाषा के ज्ञान के प्रति बंकिम की तथाकथित अहम्मन्यता की आलोचना करते हुए उसे 'असहनीय पाण्डित्य प्रदर्शन' कहा। लेकिन बंकिम अपमान सहन करके चुप-चाप बैठने वाले नही थे। उन्होने उतने ही जोरदार शब्दो मे लिखा कि कलेक्टर उनके वरिष्ठ न्यायाधिकारी नही है और इसलिए एक महीने के भीतर उन्हें क्षमा-याचना करनी होगी। बकलैण्ड को स्वप्न मे भी इस तरह के मुहतोड़ जवाब की आशा नही थी और वह भी अपने ही कनिष्ठ भारतीय अधिकारी से। उसने क्षमायाचना नही की, लेकिन वह यह अच्छी तरह जानता था कि बंकिम के निर्णय पर इस प्रकार टिप्पणी लिख कर उसने गलती की है। अन्तत जब बंकिम ने मामले की शिकायत आयुक्त से की, तो बकलैण्ड को लगा कि स्थिति बिगड रही है और उसने बंकिम से क्षमा-याचना करके समझौता कर लिया। बकलैण्ड के प्रति न्याय करने के लिए यह कहना जरूरी है कि बकलैण्ड ने अपनी उपर्युक्त प्रसिद्ध पुस्तक मे बंकिम के प्रति प्रशस्ति अर्पित करके बड़ी शालीनता का परिचय दिया। सबसे रोचक बात यह है कि सरकार बंकिम से नाराज नही हुई और यूरोपीय

मजिस्ट्रेटों से होने वाले अनेक झगड़ों पर उन्हें कभी दण्ड तो क्या चेतावनी तक नहीं दी गई। इसके विपरीत उन्हें सेवा-काल के दौरान निरंतर मान्यता मिलती रही और उनकी पदोन्नति होती रही। यहा तक कि स्वेच्छा से सेवा-निवृत्त होने की उनकी प्रार्थना को बड़ी अनिच्छा से स्वीकार किया गया। जहा तक बंकिम का सम्बन्ध है, उन्होंने नौकरशाही की धमकियों को कभी सहन नहीं किया और न किसी की कृपा या क्रोध की चिन्ता की। वह उच्चकोटि के निष्ठावान, न्यायप्रिय, परिश्रमी और कर्तव्यपरायण व्यक्ति थे। "बंकिमचन्द्र बड़े स्वाभिमानी थे। वह अपने लाभ के निमित्त अपने वरिष्ठ अधिकारियों का कृपापात्र बनने के लिए अपने आत्मसम्मान पर बट्टा लगाने को तैयार नहीं थे। वह इस बात के प्रति पूर्णतः सचेत थे कि उनको योग्यता के आधार पर ही नौकरी में सम्मानित स्थान मिला हुआ है। इस भावना ने उनकी आत्मसम्मान की भावना को और सुदृढ़ बना दिया था। सन 1881 में कुछ न्यायिक निर्णयों पर बकलैण्ड से उनके झगड़े और 1883 में हावड़ा के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट से विवाद में न केवल अपनी योग्यता में विश्वास वरन् विचार स्वातन्त्र्य का भी पता चलता है। यद्यपि ये दोनों गुण ऐसे थे कि वे अक्सर नौकरी के प्रतिबन्धों से टकरा जाते थे।"*

सितम्बर, 1881 में बंकिम की नियुक्ति बंगाल सरकार के अस्थायी सहायक सचिव के रूप में कलकत्ता में हुई। उन दिनों भारतीयों के लिए यह बहुत ऊंचा पद था। पर बंकिम इस पद पर बहुत थोड़े अरसे के लिए रहे। बंकिम के सेवाकाल का यह एक असुखद प्रसंग था। यह न केवल इस कारण उल्लेखनीय है कि इससे बंकिम की कार्यकुशलता के संबंध में निराधार गलतफहमी उत्पन्न हुई, बल्कि इसलिए भी कि इससे बंगाल के सचिवालय के नीति-निर्माण में व्याप्त नौकरशाही के पूर्वाग्रह का पर्दाफाश होता है।

उन दिनों सरकारी विभागों में सचिव और अवर सचिव के पद होते थे, लेकिन सहायक सचिव का कोई पद नहीं था। नवस्थापित वित्त विभाग के लिए यह पद स्वीकृत किया गया था। इस पर प्रारंभ में रौबर्ट नाइट की और उसके बाद राजेन्द्रनाथ मित्र की नियुक्ति हुई थी। मित्र की अनुपस्थिति में बंकिम को अस्थायी तौर पर यह पद दिया गया था।

* कौरम मूवमेंट इन बंगाल, निर्मल सिन्हा द्वारा संकलित और सम्पादित

किन्तु जब सी. पी. एल मैकाले सचिव बना, तो उसने सहायक सचिव के पद को खत्म करने और उसके स्थान पर अवर सचिव का पद स्वीकृत करने की सिफारिश की। इस सिफारिश के लागू होने पर बंकिम को जनवरी, 1882 में यह पद छोडना पडा और वे अलीपुर मे डिप्टी मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए। इस असुखद प्रसंग से जनता के कुछ वर्गों मे यह भ्रान्त धारणा फैल गई कि बकिम के विरुद्ध कुछ अभियोग लगाए गए हैं अर्थात उनके कार्यकाल में कुछ गुप्त सूचनाए बाहर निकल गई थी। पर रौबर्ट नाइट ने, जो उन दिनो 'स्टेट्समैन' के सम्पादक थे, अपने समाचारपत्र मे इस गलत धारणा का जोरदार खडन किया और बंकिम के चरित्र और योग्यता की बहुत प्रशसा की। सम्भवत यूरोपीय नौकरशाही को अपने 'सुरक्षित पवित्र कक्ष' में एक भारतीय की उपस्थिति सहन नही थी। बंकिम के बाद जो व्यक्ति उस पद के लिए चुना गया, वह एक गोरा, मिस्टर ब्लाइद था, इससे भी यही बात स्पष्ट होती है। सचिव मैकाले के साथ भी बंकिम की एक-आध बार खटपट हुई, जिसमे लगता है कि बंकिम को उप-राज्यपाल ईडिन का समर्थन प्राप्त था।

अलीपुर में वह बहुत दिन नही टिके। जल्दी-जल्दी उनके स्थानातरण हुए। अलीपुर से बारासत और फिर दुबारा अलीपुर और अन्तत. उड़ीसा मे जाजपुर में उनकी बदली हुई। 1883 मे उनकी बदली हावडा हो गई, जहाँ कलेक्टर वैस्टमैकोट के साथ जो बकलैण्ड की भांति ही उनके न्यायिक निर्णयों मे हस्तक्षेप करता था, उनके सबंध कुछ अच्छे नही रहे। हावड़ा मे उनकी पदोन्नति हुई और वह प्रथम श्रेणी के अधिकारी बन गए, जो उनके सेवावर्ग मे सर्वोच्च पद था। वहा से उनका स्थानान्तरण झिनाइदा, फिर उड़ीसा में भद्रक और वहा से हावड़ा और फिर मेदिनीपुर और अन्तत. अलीपुर में हुआ, जहां वह अन्त तक रहे।

उनके जीवन की यह अवधि स्पष्ट और निर्णायक परिवर्तनों की अवधि थी। हम यह देख चुके है कि 'वंगदर्शन' के दिनों से बकिम एक रचनात्मक विचारक के रूप मे उभरकर सामने आ रहे थे। पर लगभग 40 वर्ष की उम्र से उस स्वतंत्र विचारक की धर्म और दर्शन मे दिलचस्पी बढने लगी। ऐसा लगता है कि ज्यों-ज्यो उनकी उम्र बढी और उन्हें जीवन का अधिकाधिक अनुभव हुआ, त्यों-त्यों उनकी बौद्धिक जिज्ञासा भी बढी और वह जीवन तथा उसके उद्देश्य और सिद्धि के गहन अर्थों की खोज करने लगे। वह

ऐहिक और पारमार्थिक सूक्ष्म धरातलों के बीच सेतुनिर्माण का प्रयास कर रहे थे। वह प्रचलित विश्वासों और कुसंस्कारों से अलग हिन्दू धर्म के गहन सत्यों की खोज की यात्रा में संलग्न थे।

एक ऐसा अवसर आया जब न केवल उन्हें धर्मशास्त्रों की गहराइयों में उतरने का स्वर्णिम अवसर मिला, बल्कि उन सबकी प्रभावकारी व्याख्या करने का भी मौका हाथ लगा, जिसे वह हिन्दू धर्म का मूल तत्त्व मानते थे। यह एक चुनौती से भरा अवसर था, जब वह सरकारी एकान्तिकता के रूप में बाहर निकलकर इस सम्बन्ध में सार्वजनिक चर्चा के समुद्र में उतर पड़े। राममोहन राय के युग से हिन्दू धर्म की ईसाई मिशनरियों और प्रचारकों द्वारा कटु-से-कटु आलोचना की जा रही थी। यहां तक कि कुछ यूरोपीय इतिहासकारों और प्राच्यविद्या विशारदों ने भी भारतीय थाती के महत्त्व के अवमूल्यन का प्रयास किया था। राममोहन राय और अन्य बहुत से तत्कालीन प्रसिद्ध बुद्धिजीवियों ने इस चुनौती को स्वीकार किया और प्राचीन विश्वासों तथा संस्कृति पर किए जाने वाले प्रहारों का समुचित उत्तर दिया। पूरी उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान धर्म और धार्मिक अनुष्ठानों सम्बन्धी वादविवादों के कारण वातावरण तनावपूर्ण बना रहा। वस्तुतः बहुत हद तक मिशनरियों द्वारा कटु आलोचनाओं के कारण ही उस शताब्दी के अन्तिम तीन दशकों में हिन्दू धर्म में आत्मरक्षा की भावना पैदा हुई, जिससे उसके पुनरुज्जीवन में सहायता मिली।

सितम्बर, 1882 में शोभा बाजार के एक जमींदार के घर पर बहुत विशाल और प्रभावकारी ढंग से श्राद्ध समारोह हो रहा था। उसमें लगभग 4000 पण्डित और कलकत्ता समाज के कुलीन व्यक्ति सम्मिलित थे। अन्य अष्टव्यों के अतिरिक्त जमींदार के पारिवारिक देवता गोपीनाथजी चांदी के एक सिंहासन पर विराजमान थे। समारोह का एक सीधा-सादा समाचार स्टेट्समैन में छपा था। इस पर जनरल असेम्बलीज इन्स्टीट्यूशन (अब स्कॉटिश चर्च कालिज) के स्कॉटिश मिशनरी रेवरेंड हेस्टी ने, जो भारत-मित्र होने का दावा करता था, उसी समाचार पत्र में सुनियोजित ढंग से पत्र लिखकर हिन्दू धर्म, विशेषकर उसके मूर्तिपूजा संबंधी पहलू की कटु-से-कटु आलोचना की। ऐसा इस बात की पूर्णतः उपेक्षा करते हुए किया गया कि वह एक पवित्र अवसर था, जिसका संबंध शोकाभिव्यक्ति से था।

ऐसे अवसर पर रेवरेंड हेस्टी ने हिन्दू देवी-देवताओं से सम्बद्ध मूर्तिपूजा पर गहरी घृणापूर्ण आलोचना की झड़ी लगा दी। मूर्तिपूजा पर आध्यात्मिक लफ्फाजी की भाषा मे विभिन्न प्रकार के अशोभनीय वक्तव्यों के अतिरिक्त इस स्कॉटिश मिशनरी ने लिखा, "और ये शिक्षित व्यक्ति (उस अवसर पर उपस्थित कलकत्ता के कुलीन लोगों पर इशारा था) जो उस श्राद्ध के समय गोपी-नाथजी की मूर्ति के सामने श्रद्धानत होकर खड़े थे, यह अच्छी तरह जानते थे और *आतरिक कटुता के साथ यह अनुभव भी करते थे कि मूर्तिपूजा* से उनके युवा वर्ग का विश्वास उठ चुका है और वह अब बगाल मे 19वीं शताब्दी के अन्तिम 'आडम्बर' के समक्ष खड़े हैं। यदि ये लोग अपनी मूर्तियों को दूर विसर्जित कर जीवित ईश्वर पर ईमान नही लाते तो उनका भविष्य अधकारमय है और प्रतिदिन अधिकाधिक अन्धकारमय होता जाएगा।"*

वंकिम उस समय जाजपुर में थे। उनका मन हिन्दू धर्म के शाश्वत सत्यों मे पहले ही इतना रमा हुआ था कि रेवरेंड हेस्टी के पत्र पढ़ने को मिले। उन्हें पढ़ कर वह तिलमिला गए और इस नतीजे पर पहुचे कि इस अपमान का मुंहतोड़ जवाब देना है। अतः उन्होंने उसी समाचार पत्र मे 'रामचन्द्र' के छद्म नाम से मिशनरियों के आरोपों का करारा जवाब देते हुए उनका खंडन किया। यह वादविवाद लम्बे अरसे तक चला, जिसमें लोगों ने बड़ी दिलचस्पी ली। यद्यपि उन्होंने छद्म नाम से लिखा, पर शीघ्र ही पाठकों को यह पता चल गया कि उन महत्त्वपूर्ण पत्रों का लेखक और कोई नही, 'कपालकुण्डला' के प्रसिद्ध रचयिता हैं।

उपहास का उत्तर उपहास मे देते हुए वंकिम ने लिखा, "कि क्या मैं मिस्टर हेस्टी को, जो भारतीय सेन्ट पॉल बनकर ख्याति अर्जित करने की महत्वाकांक्षा रखता है, यह सुझाव दे सकता हूं कि हिन्दू धर्म के सिद्धान्तो का खंडन करने का प्रयास करने से पहले वह इन सिद्धान्तो से अच्छी तरह परिचय प्राप्त करें? हिन्दू धर्म के भीतरी दुर्ग पर मिस्टर हेस्टी द्वारा सेंध डालने के दुस्साहस से हमारे मन मे बरबस एक और उसी प्रकार की घटना—पवन बस्ती के सामने तानाशा के आक्रमण—का स्मरण हो आता है।"**

* बंकिम रचनावली, शताब्दिकी संस्करण, ब्रजेन्द्र नाथ बनर्जी और सजनीकान्त दास द्वारा सम्पादित, बंगीय साहित्य परिषद

** वही

ये शब्द कटु थे लेकिन उनके लिए हेस्टी ने ही उकसाया था। व्यग्य की बात तो अलग रही, इस अवसर पर बंकिम ने वास्तविक ठोस कार्य यह किया कि लगातार पत्राचार से हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों को प्रकाश मे लाए और उन्हें प्रभावकारी ढंग से शिक्षित जनता के सामने रख कर यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दू धर्म पर मिशनरियों के प्रहार अल्पज्ञान पर आधारित है और भ्रमात्मक है। उन्होंने कहा कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव की अवधारणाएं प्रेम, शक्ति और न्याय का प्रतीक हैं। कृष्ण और राधा आत्मा और प्रकृति के प्रतीक है। जहां तक मूर्ति-पूजा का संबंध है, उन्होंने लिखा कि मिस्टर हेस्टी को सम्भवत. यह जानकर आश्चर्य होगा कि मूर्ति-पूजा हिन्दू धर्म का अंग होते हुए भी, प्रचलित पूजा पद्धति का अनिवार्य अंग नहीं है। हिन्दू शास्त्रो मे मूर्ति-पूजा का विधान है, उसका गुणगान भी किया गया है, पर वह धर्म का अपरिहार्य अंग नहीं है। कट्टर ब्राह्मण प्रतिदिन विष्णु और शिव की पूजा करता है, पर उसके लिए मूर्तिपूजा करना आवश्यक नहीं है। एक बार भी मन्दिर न गया हो, ऐसा व्यक्ति भी वह नैष्ठिक हिन्दू हो सकता है।* उन्होंने आगे लिखा, "मूर्तिपूजा का एकदम तिरस्कार भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह मानव मे देवत्व के आदर्शों की बाह्याभिव्यक्ति मात्र है। क्या मनुष्य हमेशा अपनी मानसिक भावनाओं के लिए भौतिक आकृति की आवश्यकता महसूस नहीं करता है? क्या सभी कलाओं, काव्यों और नाटकों के मूल में यही अन्तःप्रेरणा नहीं है?" बंकिम ने लिखा, "मूर्तियों का अस्तित्व उतना ही न्यायसंगत है जितना हेमलेट की त्रासदी या प्रोमीथियस की कथा का। मूर्तियों की धार्मिक पूजा भी उतनी ही न्यायसंगत है जितनी कि हेमलेट या प्रोमीथियस की बौद्धिक पूजा।"** निस्सदेह यह मूर्ति पूजा की प्रबुद्ध व्याख्या थी।

बंकिम का मस्तिष्क उस समय हिन्दू धर्म और दर्शन की गहराइयों तक पहुंचने मे पूरी तरह तल्लीन था, इसका पता हमें बंकिम द्वारा संभवतः अपने एक मित्र जोगेन्द्रचन्द्र घोष को लिखे गए पत्रों की अपूर्ण शृंखला से भी चलता है। घोष महोदय उन दिनों के एक प्रसिद्ध पॉजिटिविस्ट (कॉमतेवादी

* बंकिम रचनावली, शतवार्षिकी संस्करण : ब्रजेन्द्रनाथ बनर्जी और सजनीकान्त दास द्वारा सम्पादित, बंगीय साहित्य परिषद

** वही

अर्थात् प्रत्यक्षवादी) थे। 'लैटर्स ऑन हिन्दुइज्म' के नाम से विख्यात यह रचना उनकी प्रचण्ड विद्वत्ता और विश्लेपणशीलता का अचूक प्रमाण है। हिन्दू धर्म के मूल तक पहुचने के प्रयास मे उन्होंने उसकी उत्पत्ति और इतिहास, उसके *आख्यानो* और मिथको, उसमे अन्तर्निहित बहुदेववाद और शताब्दियों से उसके साथ जुडी तथा जुडती गई विभिन्न अन्य बातों की चर्चा की है। इन पत्रो को लिखने में बकिम का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हिन्दू धर्म को "प्रचलित भ्रातियो से, जो उसके साथ युगों मे चिपके थे, अधविश्वासो और उत्कटताओ से, जिनके कारण उसके उदात्त उद्देश्य अपने अर्थ खो बैठे थे, मुक्त करना था। उनका खडन और निराकरण प्रत्येक हिन्दू का कर्त्तव्य था।"* वह हिन्दू धर्म के उन अन्त-निहित शाश्वत सिद्धान्तो की खोज मे थे जो सभी युगो के लिए और सारी मानव जाति के लिए श्रेष्ठ हों। दूसरे शब्दो मे वह बिना आस्था का परि-त्याग किए बुद्धि के प्रकाश मे हिन्दुत्व के मूल तत्त्वो के पुनर्स्थापन के प्रयास मे सलग्न थे।

उसके बाद बकिम की विचारधारा के विकास का अध्ययन काफी दिलचस्प है। निश्चित रूप से यह युग उनके मानसिक विकास की निर्णायक अवधि रही होगी, जब वह रोमाटिक कथा साहित्य की काल्पनिक उड़ानों से बधे न रह कर उन्मुक्त होकर चल रहे थे। वह अब कलाकार मात्र नही रहे थे बल्कि एक ऐसे व्यक्तित्व के रूप मे उभर रहे थे, जिसके पास देने के लिए एक सदेश था।

यहा यह बात भी ध्यान देने की है कि हेस्टी के साथ उस मशहूर वादविवाद मे उलझने से पहले भी बकिम ने अपना देशभक्तिपूर्ण उपन्यास 'आनंदमठ' लिखना शुरू कर दिया था, जिसमे उनका प्रसिद्ध-गीत 'वन्दे मातरम्' आता है। यह रचना पुस्तक के रूप मे 1882 मे हेस्टी विवाद के कुछ ही समय बाद प्रकाशित हुई थी। यह कल्पनीय है कि उस समय बकिम के मस्तिष्क पर देशभक्ति की भावना पूरी तरह छाई हुई थी, जिसे वह देश के लोगों तक संचारित करना चाहते थे। यहा एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है। उस समय बंकिम की वास्तविक मानसिक स्थिति क्या थी ? एक ओर हेस्टी वादविवाद से उनकी गहरी धार्मिक प्रवृत्ति का पता चलता है। दूसरी ओर 'आनंदमठ' में उनकी विशुद्ध देशभक्ति की भावना सामने आई। इन दो भिन्न प्रवृत्तियों,

* वही

एक धार्मिक और दूसरी ऐहिक मे, उन्होंने अपने मानसिक धरातल पर ताल-मेल कैसे बैठाया ? संभवत इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि उनमे देशभक्ति की भावना पहले ही उत्पन्न हो चुकी थी, कुछ तो देशवासियो की दयनीय स्थिति से निकट परिचय के कारण और कुछ मानव-कल्याण से सबधित यूरोपीय दर्शनो के मनन-चिंतन के कारण। साथ ही, गहरे धार्मिक सस्कार भी उनके हृदय मे हिलोरे ले रहे थे, जिन्होंने उन्हे जीवन के उच्च मूल्यो की खोज के लिए प्रेरित किया। ये दोनो प्रवृत्तिया ऊपर से परस्पर विरोधी लगने पर भी उनके मन मे उस विशेष अवधि मे एक साथ विद्यमान थी, जो आगे चलकर उनके सम्पूर्ण जीवन-दर्शन मे एकाकार हो गई। जैसा कि हम बाद मे देखेंगे 'आनदमठ' मे देशभक्ति धार्मिक ऊंचाइयो तक पहुंच गई है क्योकि उनकी दर्शन-पद्धति देशभक्ति के बिना अपूर्ण है। यही से उस सामाजिक-धार्मिक सदेश का शुभारभ होता है जो आगे चल कर 'कृष्ण-चरित्र' और 'धर्म-तत्त्व अनुशीलन' मे पराकाष्ठा तक पहुंच गया।

'आनदमठ' के बाद 'देवी चौधरानी' की रचना हुई, जिसमे उन्होंने मानवीय परिस्थितियो और मानवीय चरित्रो को लेकर जीवन के ऊंचे मूल्यो को प्राप्त करने के लिए आत्म-साधना के महत्त्व को दर्शाया है। देवी एक महिला पात्र है, जो डाकुओ के एक गिरोह पर शासन करती है। उसके चरित्र मे उन्होंने गीता मे वर्णित निष्काम कर्म के आदर्श को मूर्त्त करने का प्रयास किया है। पुन. प्रकाशित 'बंगदर्शन' मे कुछ अंशो मे धारावाहिक रूप मे प्रकाशित 'देवी चौधरानी' 1884 मे पुस्तक के रूप मे प्रकाशित हुई। तब तक 'बगदर्शन' की स्थिति बहुत खराब हो चुकी थी। मार्च, 1883 मे उसका प्रकाशन बद हो गया। उसे पुन. प्रकाशित करने के प्रयास कुछ समय के लिए ही सफल हुए, फिर वह सदा के लिए बद हो गया। बकिम को एक पत्रिका की तुरत आवश्यकता थी, जिसके माध्यम से वह अपना सदेश जनता तक पहुचा सकते। तदनुसार उन्होंने एक छोटी पत्रिका 'प्रचार' का प्रकाशन जुलाई, 1884 मे अपने दामाद के साथ मिलकर किया। उनके दामाद राखालचन्द्र बन्द्योपाध्याय इसमे सर्वेसर्वा थे और बकिम अपनी रचनाओं के माध्यम से इसे समृद्ध बना रहे थे। 'प्रचार' नाम महत्त्वपूर्ण है और लगता है कि बड़ा सोच-समझकर रखा गया था क्योंकि इसका अर्थ है सदेश का प्रसार और सदेश ही वह वस्तु है जिसे बकिम जनता तक पहुचाना चाहते

थे। 'प्रचार' के पृष्ठो पर उन्होने अपनी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'कृष्णचरित्र' धारावाहिक रूप मे छपवाई। इस पुस्तक मे श्रीकृष्ण के चरित्र और व्यक्तित्व का बडा ही भव्य चित्रण किया गया है । 'सीताराम', जिसे एक तरह से उनका अतिम उपन्यास कहा जा सकता है पहले 'प्रचार' मे ही छपा था। इसमे देशभक्ति और नैतिकता का सुन्दर मिश्रण है। 1887 मे 'सीताराम' पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। 'आनदमठ' और 'देवी चौधरानी' की तरह यह भी एक सोद्देश्य उपन्यास है।

'प्रचार' के प्रकाशन से केवल 15 दिन पहले बकिम के मित्र और सहयोगी अक्षयचन्द्र सरकार ने भी अपनी पत्रिका 'नवजीवन' शुरू की थी। 'नवजीवन' में बकिम की धार्मिक कृति 'धर्म-तत्त्व अनुशीलन' प्रकाशित हुई।

'प्रचार' मे बकिम ने श्रीमद्भागवद्गीता की एक अपूर्ण व्याख्या और हिन्दू धर्म और हिन्दू देवी-देवताओ पर एक कृति प्रकाशित कराई। 1889 मे 'प्रचार' का प्रकाशन भी बंद हो गया। बंकिम गीता को संसार की सबसे पवित्र पुस्तक मानते थे, पर उनका विचार था कि 'विश्वरूप दर्शन' अध्याय के साथ गीता की समाप्ति हो जानी चाहिए थी। उनके विचार मे बाद के अध्याय प्रक्षिप्त है। दूसरी कृति मे उन्होने वैदिक देवी-देवताओ की चर्चा की है और अन्तत वह इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि हिन्दू धर्म आधारभूत रूप से एकेश्वरवादी है। इस प्रकार 'प्रचार' और 'नवजीवन' के पृष्ठों में बकिम ने हिन्दू धर्म के विभिन्न पहलुओं पर चार पुस्तके लिखी—हेस्टी वादविवाद सबंधी पत्रो के साथ-साथ ये कृतिया हिन्दू धर्म पर बकिम की महत्त्वपूर्ण कृतिया है और इनमें हिन्दू धर्म के सबध मे उनके विचारो का विशुद्ध सार आ गया है।

यह तो रहा बकिम के बारे मे, उस व्यक्ति के बारे मे जिसे एक सदेश देना था लेकिन कलाकार बकिम की अंतिम महान कृति थी 'राजसिह' जिसे कहानी से विस्तृत और वर्द्धित करके उन्होने एक सम्पूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास का रूप दिया था। उन्होंने यह कार्य 1893 में अपनी मृत्यु से कुछ ही महीने पहले पूरा किया। बहुत लोगो के अनुसार यह उपन्यास यदि सर्वश्रेष्ठ नही तो बंकिम के श्रेष्ठ उपन्यासो मे से एक अवश्य है। 'राजसिह' इस बात का प्रमाण है कि बकिम का कलाकार महान सदेश के बोझ के नीचे दबकर नष्ट नही हो गया था। वह उस समय भी जीवित था, जब उनकी जीवन-यात्रा का अत बहुत दूर नही था।

7. सफलता

पिछले अध्याय से हमें बंकिम की मानसिक प्रवृत्तियों का पता लग जाता है। उन्होंने अपना जीवन एक स्वतंत्र विचारक के रूप में शुरू किया, फिर वह उपयोगितावाद और प्रत्यक्षवाद जैसे यूरोपीय दर्शनों में उलझे रहे। अन्ततः उनका रुझान उन तत्त्वों की ओर हो गया जिन्हें वह हिन्दू धर्म और दर्शन के मूल तत्त्व मानते थे। यह पहले ही बताया जा चुका है कि पिछली शताब्दी के सत्तर से नब्बे के बीच के वर्ष महान धार्मिक पुनर्जागरण के वर्ष थे। पाश्चात्यवाद के प्रथम प्रभाव के साथ-साथ मिशनरियों के प्रहारों और कुछ हद तक ब्राह्म समाज के आमूलचूल परिवर्तनवाद के कारण हुए हिन्दू धर्म के अवमूल्यन की तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दू धर्म का इस समय तेजी से पुनरुज्जीवन हुआ। बंकिम जैसा अनुभूतिशील व्यक्ति भला युग की बुलन्द पुकार से अछूता कैसे रहता। सभवत. ऊपर से ओढ़े हुए उनके पाश्चात्यवाद के नीचे धार्मिक सस्कार दबे हुए थे, जो जीवन में अनुभव की परिपक्वता के साथ धार्मिक पुनरुज्जीवन के उल्लास से परिपूर्ण वातावरण में स्वतः प्रकट हुए।

उनकी पुस्तक 'कृष्ण चरित्र' (जो पहले पहल 1886 में प्रकाशित हुई और बाद में सशोधित और परिवर्धित रूप में 1892 में छपी) को फ्रेजर ने "उनकी समस्त कृतियों की शिरोमणि कहा है।" * जे.एन. फरकुहर ने उसकी बहुत प्रशसा करते हुए कहा, "यह नवपर्याय के कृष्ण साहित्य की अब तक प्रकाशित पुस्तकों में सबसे अधिक प्रभावकारी रचना है।" ** पर यह सिर्फ दार्शनिक पोथी या आध्यात्मिक प्रबन्ध मात्र नहीं है। इसमे इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन, धर्म सबका समावेश है, साथ ही प्राच्य विद्वत्ता और पाश्चात्य अध्ययनशीलता का सुन्दर सम्मिश्रण है। यह उनके गभीर ज्ञान के साथ-साथ उनकी धार्मिक अनुभूति का परिचायक है।

---

* लिटरेरी हिस्ट्री आफ इण्डिया

** माडर्न रिलीजियस मूवमेंट्स इन इण्डिया

श्रीकृष्ण के चरित्र और व्यक्तित्व की पुनर्व्याख्या करते हुए बंकिम ने कुछ कसौटियां सामने रखी। उनका कहना था कि यदि पुरानी थाती की रक्षा करनी है, तो हमे यह देखना होगा कि उनमें सुरक्षित रखने योग्य कुछ है तो वह क्या है। पर यदि हमे पुरानी परम्पराओं का बहिष्कार करना है, तो कृष्ण की पौराणिक-कथा और कृष्णोपासना की पहले छानबीन करनी होगी, क्योंकि कृष्ण भारत की अतिप्राचीन थाती के अविछिन्न अग रहे हैं। इस दृष्टिकोण को लेकर बंकिम ने भारत के प्राचीन इतिहास, धर्मशास्त्रो और पुराणों का गहराई से अवगाहन-अध्ययन किया और कृष्ण को सर्वाधिक पूर्ण चरित्र सिद्ध करने का प्रयास किया। पर उन्होंने ऐसा केवल श्रद्धा जगाने के सहज मार्ग से नही किया, बल्कि पूर्णतया बुद्धिवादी पद्धति के माध्यम से किया। धार्मिक पुस्तको मे जो कुछ प्रक्षिप्त था उसका उन्होने बहिष्कार किया और उन्हे जो कुछ काल्पनिक लगा उसे कोई महत्त्व नही दिया। अत यह सिद्ध है कि उन्होंने इस विषय पर बुद्धिवादी वैज्ञानिक पद्धति से विचार किया।

मानो अन्न से भूसी को अलग करते हुए उन्होने कृष्ण की ऐतिहासिकता को प्रमाणित किया और यह बताया कि महाभारत का अधिकांश भाग ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। कृष्ण के सम्बन्ध मे उन्होने कहा, "मुझे भी पक्का विश्वास है कि कृष्ण भगवान के अवतार थे। मेरी पाश्चात्य शिक्षा ने मेरे इस विश्वास को और दृढ़ ही किया है।" पर अपनी इस कृति मे उन्होंने अपनी इस दृढ आस्था को ऐतिहासिक निर्णयो के मार्ग मे नही आने दिया। यहा उनका कृष्ण से सम्बन्ध एक मानवीय चरित्र, ऐतिहासिक कृष्ण के साथ था और उनका यह दृढ विचार था कि कृष्ण जैसा आदर्श चरित्र, जिसमे उच्चतम गुणो का मधुर सामजस्य हो और जो सब प्रकार के कलक से रहित हो, किसी अन्य देश के इतिहास या साहित्य मे नही मिल सकता।

पर कृष्ण को आदर्श चरित्र के रूप मे स्थापित करने से पहले उन्हे कृष्ण के व्यक्तित्व को उसके चारो ओर लिपटी हुई अनेक कल्पित कथाओं और पौराणिक उपाख्यानो के जजाल से मुक्त करना था। अपनी शक्तिशाली विश्लेपणात्मक बुद्धि द्वारा उन्होने उन सभी अरुचिकर पौराणिक और काल्पनिक कथाओ की धज्जिया उडा दी, जो युगो से कृष्ण के साथ झाड़-झखाड़ की तरह जुड़ गई थी। कृष्ण को भगवान के मानवीय अवतार के रूप में स्थापित करने का उनका लक्ष्य इस पुस्तक मे अच्छी तरह पूरा हुआ है।

अद्वितीय साहस से बंकिम ने कृष्ण-कथाओं पर युगों से जमे हुए कूड़े-करकट को साफ कर दिया। बहुत कम लोग उनके जैसे साहस और बुद्धिवाद का दावा कर सकते हैं।

कुछेक क्षेत्रों मे बंकिम की विवेचन पद्धति की तुलना अर्नेस्ट रेनां की पद्धति से की गई है। ईसामसीह् के जीवन के पुनर्निर्माण के लिए इस प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक ने एक पद्धति अपनाई, जिसे उसने 'ऐतिहासिक आलोचना का सिद्धांत' नाम दिया। इसके अन्तर्गत वह विभिन्न धार्मिक दन्तकथाओं की गहराइयों में पैठ कर उनके आपसी अन्तरों और विरोधों को प्रकाश में ले आए और चमत्कारों तथा अलौकिकताओं का खण्डन किया। अन्ततः उन्होंने ईसामसीह् को "मानवीय महानता के उच्चतम शिखर पर" स्थापित किया, जैसा कि बंकिम ने कृष्ण के सम्बन्ध में किया। इन दोनों क्षेत्रों में ऐतिहासिक यथार्थता की लालसा, श्रद्धा और भक्ति की भावना से रहित हो, ऐसी बात नहीं। स्पष्टतः दोनों ने ही अपने-अपने युग की इस महान समस्या को अनुभव किया कि बुद्धि और सामान्य बोध को अस्वीकार्य, ऊलजलूल विश्वासों और चमत्कारों के कारण उत्पन्न विकारों से धर्म को मुक्त करके उसके सच्चे स्वरूप को प्रस्तुत करने की आवश्यकता है।

उस अवधि की बंकिम की दूसरी कृति 'धर्मतत्त्व (पहला भाग)—अनुशीलन' एक पाण्डित्यपूर्ण एवं महान बौद्धिक कृति है। सम्भवतः बंकिम की योजना इस पुस्तक का दूसरा भाग लिखने की थी, जिसे वह पूरा नहीं कर पाए। इसका काफी अंश 'नवजीवन' में धारावाहिक रूप से छपा और 1888 में यह पुस्तक के रूप में छपी। इसमें धर्म और दर्शन के संबंध में बंकिम के विचारों का सार विद्यमान है। एक गुरु और शिष्य के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में बंकिम ने इस पुस्तक में दार्शनिक प्रश्नों, जैसे मानव जीवन के लक्ष्य और उद्देश्य तथा प्रसन्नता और पूर्णता की आधारभूत समस्याओं पर विचार किया है। 'धर्मतत्त्व' में धर्म और नैतिकता दोनों समन्वित हैं परन्तु धर्म से नैतिकता पर अधिक जोर है, जिसे आम जनता समझ सकती है। इसमें मानव जीवन को सुख और कल्याण के सच्चे मार्ग पर ले जाने वाले सदाचार के नियमों का व्यापक वर्णन है और यह बताया गया है कि किस प्रकार इस मार्ग पर चलते हुए भक्ति के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। इस पुस्तक में दी गई शिक्षाएं संक्षेप में इस प्रकार हैं। सच्चा सुख या मानव जीवन की पूर्णता

शारीरिक और मानसिक सब क्षमताओ के सन्तुलित विकास मे निहित है। मनुष्य की बौद्धिक, शारीरिक और भावनात्मक क्षमताओं और प्रेम, भक्ति तथा दया जैसे गुणो का विभिन्न रूपो मे विश्लेषण करते हुए बंकिम ने इस बात पर बल दिया है कि इन सबमे संतुलन प्राप्त करने में ही सच्ची मानवता है। इस प्रकार की आत्मसाधना पूर्णता को तब प्राप्त होती है, जब व्यक्ति एक विशेष मानसिक अवस्था को प्राप्त कर लेता है अर्थात भक्ति के माध्यम से भगवान मे लीन हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करना ही धर्म है। जब एक बार मन इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब मनुष्य न केवल अपने समाज और देश को, बल्कि समस्त मानवता से प्रेम करने लगता है। क्या भगवान द्वारा बनाए गए सभी जीवों मे भगवान प्रकाशमान नही है? प्रेम अपने विभिन्न रूपों में—स्वयं अपने प्रति अथवा अपने परिवार या समाज या देश के प्रति प्रेम—अन्तत. ईश्वर प्रेम से ही उद्भूत होता है। जैसी स्थिति मे मनुष्य है, उसमें ईश्वर के प्रति प्रेम के बाद यदि दूसरा कोई सर्वोच्च धर्म है तो वह है देश के प्रति प्रेम। देशभक्ति का आध्यात्मीकरण बंकिम के दर्शन की एक अद्वितीय विशेषता है। ऐसे बहुत कम लेखक हैं, जिन्होंने देशप्रेम को अपने धार्मिक दर्शन का अविछिन्न अंग बनाया है या अपनी आचारसंहिता मे उसे इतना ऊंचा स्थान दिया है। अपने दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हुए बंकिम ने आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग नही किया, बल्कि ईश्वर-भक्ति के अग के रूप मे, मनुष्य के लिए एक व्यावहारिक धर्म की व्याख्या की है। उनका मुख्य लक्ष्य ससार से पलायन करके दार्शनिक परमानन्द की ऊंचाइयो मे भटक जाना नहीं, बल्कि मनुष्यों को इस दुनिया मे रह-बस कर सच्चे अर्थों मे मानव बनना है।

'प्रचार' और 'नवजीवन' के पृष्ठो पर नव-हिन्दुत्व के प्रचार के कारण बंकिम पर कई ओर से प्रहार हुए और उन्हें खुले वादविवाद के लिए बाध्य किया गया। कुछ लोगो का आरोप था कि वह हिन्दू धर्म मे यूरोप के भोगवाद की मिलावट करके उसे भ्रष्ट कर रहे है। कुछ दूसरो ने उन पर यह लाछन लगाया कि वह हिन्दू धर्म की गलत व्याख्या कर रहे हैं, पर सबसे अधिक स्मरणीय रहा बंकिम का आदि-ब्राह्म समाज से वाद-विवाद। इस वादविवाद का इतिहास समसामयिक पत्रिकाओं जैसे 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका', ठाकुर परिवार की 'भारती', बंकिम के आत्माभिव्यक्ति के साधन 'प्रचार' और

'नवजीवन', ब्राह्म समाज के आमूल परिवर्तनवादी मुखपत्र 'संजीवनी' और अनुदारवादी हिन्दू समाज के मुखपत्र 'बंगवासी' के पृष्ठों में बिखरा पड़ा है।

उस समय तक ब्राह्म समाज स्वयं तीन भागों में बंट चुका था—आदि-ब्राह्म समाज, साधारण ब्राह्म समाज और नवविधान ब्राह्म समाज। आदि ब्राह्म समाज, जिसके साथ देवेन्द्रनाथ ठाकुर का शक्तिशाली व्यक्तित्व जुड़ा हुआ था, परिवर्तनवादी ब्राह्म समाज के मुकाबले अनुदार था और अपने को विशुद्ध रूप में हिन्दुत्व का सबसे अधिक अधिकृत व्याख्याता मानता था। पर जब नवहिन्दूपुनरुज्जीवन आंदोलन शुरू हुआ, विशेषकर बंकिम के प्रेरणादायक नेतृत्व में, तब इसे कुछ कठिनाइयों का अनुभव हुआ होगा।

ऐसा लगता है कि 'प्रचार' और 'नवजीवन' में बंकिम द्वारा की गई हिन्दू धर्म की व्याख्या का सबसे पहले रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बड़े भाई द्विजेन्द्र नाथ ठाकुर ने इस आधार पर विरोध किया कि बंकिम हिन्दू धर्म के नाम पर यूरोपीय भोगवाद का प्रचार कर रहे हैं, जिसमें केवल मानवीय क्षमताओं के संतुलित विकास से उत्पन्न सुख को ही मान्यता दी गई है, जबकि उनके अनुसार सच्चे हिन्दू धर्म का लक्ष्य इस प्रकार के भोग की प्राप्ति नहीं है।

इससे भी अधिक स्मरणीय बंकिम और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का, जो उस समय आदि ब्राह्म समाज के युवा मंत्री थे, वाग्युद्ध रहा। बंकिम ने अपने एक निबन्ध में दो चरित्रों की कल्पना की—एक धर्म की बाह्य क्रियाओं को बड़ी भक्ति से सम्पन्न करता था, पर मूलतः बेईमान और अमानवीय था और दूसरा धार्मिक क्रियाओं और रीति-रिवाजों का पूरी तरह तिरस्कार करता था, पर मूलतः ईमानदार, ईश्वर से भय खानेवाला और मानव-हित के अलावा कभी झूठ न बोलने या छल न करने वाला था। श्रीकृष्ण की एक प्रसिद्ध उक्ति की व्याख्या करते हुए बंकिम यह दिखाना चाहते थे कि धर्म का मतलब केवल दिखावे के लिए पूजा-पाठ या धार्मिक क्रियाकांड के पालन से नहीं है, बल्कि चरित्र की आधारभूत शुद्धता से है। धर्म को दिए गए इस नए दृष्टिकोण से रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कोमल ब्राह्म-भावुकता को आघात लगा, और उन्होंने शक्तिशाली ढंग से उत्तर देते हुए कहा कि असत्य किन्हीं भी परिस्थितियों में असत्य ही रहेगा, चाहे कृष्ण ने ही उसे अन्यथा क्यों न कहा हो। इन दो महान-महान प्रतिभाओं का, जिनमें से एक [illegible] में

थी और दूसरी पूर्ण युवावस्था मे, वाद-विवाद कुछ समय तक चला, पर इतने लम्बे समय तक नही और न ही इतने कटु रूप मे चला कि उससे उनकी पारस्परिक सद्भावना या सम्मान को ठेस लगे। मूल रूप मे वे दोनो मित्र थे और एक दूसरे के प्रशंसक थे। बकिम के लिए रवीन्द्रनाथ छोटे भाई के समान थे या ठीक वैसे जैसे कि गुरु के लिए शिष्य। इसके बावजूद जब कभी कोई अवसर आता, तो वे एक-दूसरे के विरुद्ध बोलते भी, क्योकि वे इतने ईमानदार थे कि वैसा किए बिना रह नही सकते थे।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 1888 मे बकिम की बदली अलीपुर मे हुई। वह उनकी अंतिम पदस्थापना थी। इससे पहले उन्होने कलकत्ता मे एक मकान खरीद लिया था और वहा वह रहने लगे थे। उत्तर भारत की एक बार यात्रा भी कर आए थे। पर बकिम का समय अलीपुर मे सुखद नही रहा। अपनी स्वतन्त्र प्रकृति के कारण उनका कलक्टर बेकर से टकराव हुआ, और सम्भवत इस कारण वह अपनी नौकरी से दुखी हो गए, यद्यपि वैसे भी वह नौकरी के प्रति बहुत आसक्त नही थे। इसलिए उन्होने 1890 मे समयपूर्व सेवानिवृत्ति के लिए आवेदनपत्र दिया, पर वह मजूर नही हुआ। वह उस समय केवल 52 वर्ष के थे और अभी उनकी सेवानिवृत्ति का समय नही आया था। वह शारीरिक रूप से सेवा के अयोग्य भी नही थे। उन्हें केवल एक ही रोग था मधुमेह का, जिसके कारण व्यक्ति नौकरी के अयोग्य नही माना जाता था। अन्तत उप-राज्यपाल ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। 33 वर्ष से भी अधिक तक सरकारी नौकरी करने के बाद सितम्बर, 1891 मे उन्होने अपनी श्रमसाध्य और विविधतापूर्ण नौकरी से सेवानिवृत्ति प्राप्त कर ली।

इसके बाद उनकी साहित्यिक गतिविधिया अधिकाशत उनकी पहले लिखी गई पुस्तको के पुनरीक्षण और परिवर्द्धन तक सीमित हो गई। इनमे से 'राजसिंह' का पुनरीक्षण सबसे महत्त्वपूर्ण था, जिसके कारणो पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। उन्होने सजीवचन्द्र की कृतियो का सम्पादन भी किया। 1891 मे उनका सम्बन्ध युवावर्ग के उच्च प्रशिक्षण के लिए स्थापित सोसाइटी (सोसाइटी फार द हायर ट्रेनिग ऑफ यगमैन) से हो गया। बाद मे इस सस्था का नाम यूनिवर्सिटी इस्टीट्यूट (विश्वविद्यालय सस्थान) पड़ गया और यह छात्रों की गतिविधियो का केन्द्र बन गई। बकिम ने सोसाइटी

के समान हिंदू साहित्य पर एक भाषण दिया। सरकार ने जनवरी, 1892 में उन्हें रायबहादुर की और जनवरी 1894 में सी आई ई की उपाधि से सम्मानित किया। कलकत्ता यूनिवर्सिटी के सिनेट के सदस्य के रूप में उन्होंने बंगला भाषा को विश्वविद्यालय स्तर पर अध्ययन का विषय बनाने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किया पर उन्हें सफलता नहीं मिली।

सेवानिवृत्ति के बाद बंकिम का जीवन सुखी और शान्तिमय था। वह प्रसिद्धि के शिखर पर थे। आधुनिक बंगला कथा-साहित्य के निर्माता और हिन्दू के रूप में लोग उनका अत्यधिक आदर करते थे। साहित्य को नवजीवन प्रदान करने के कारण वह श्रद्धा और भक्ति के पात्र बन गए थे। कलकत्ता में उनके घर पर नए और पुराने साहित्यकारों का जमघट लगा रहता था, विशेषकर नवोदित लेखकों के लिए वह पथप्रदर्शक का काम करते थे और उन्हें निरन्तर प्रेरणा देते रहते थे। साहित्य को वह किस ऊंची नैतिकता की दृष्टि से देखते थे, उसका पता हमें उनके 'बांगलार नव लेखकदेर प्रति निवेदन' (बंगाल के नए लेखकों के प्रति निवेदन) (परिशिष्ट क्रमांक 2) नामक निबन्ध से चलता है। इस निबन्ध में उन्होंने यह दिखाया है कि साहित्यिक प्रयास तभी उचित है, जब उसका लक्ष्य देश या मानवता का हित हो या सौन्दर्य का सृजन हो और साहित्य सत्य और धर्म पर आधारित हो। यह थी साहित्यिक नैतिकता की वह भावना, जिसे उन्होंने अपने समसामयिक युवकों के सामने पेश किया।

लेकिन सेवानिवृत्ति के बाद के शान्तिपूर्ण जीवन की यह अवधि बहुत लम्बी नहीं रही। वह काफी समय से मधुमेह के रोगी थे। 1894 के आरम्भ में इस रोग ने अचानक गम्भीर रूप धारण कर लिया। मार्च के मध्य से वह गम्भीर रूप से पीड़ित रहने लगे। भारतीय और यूरोपीय डाक्टरों के सभी प्रकार के इलाजों से कोई लाभ नहीं हुआ। 5 अप्रैल के बाद उनकी हालत और खराब होने लगी। 8 अप्रैल, 1894 को दोपहर बाद उनके जीवन का अन्त हो गया।

बंगला साहित्य के क्षितिज का यह जाज्वल्यमान सूर्य अन्ततः छिप गया, पर उनके जीवन का कार्य अभी अधूरा ही था। उनकी कई कृतियां अधूरी पड़ी थीं। उन्होंने भारत के जिस इतिहास की योजना बनाई थी, वह अभी लिखा नहीं गया था। उन्होंने रानी भवानी के, जिनके वह महान प्रशंसक थे, जीवन को आधार बनाकर एक उपन्यास लिखने की इच्छा भी व्यक्त की थी। वह भी अभी पूरी नहीं

हुई थी। उनकी उम्र केवल 56 वर्ष की थी और अभी उनमे विपुल रचनात्मक उत्साह शेष था। यदि वह कुछ और वर्ष जीवित रहते, तो सम्भवत' विचार और सस्कृति के क्षेत्रो मे और महत्वपूर्ण योगदान देते। पर भाग्य को कुछ और ही मजूर था।

जैसे ही उनकी मृत्यु का दिल दहला देनेवाला समाचार फैला, बड़ी सख्या मे सभी स्थानो से लोग उस महान आत्मा के प्रति, जिसने अपनी कलम के जादू से लगभग 30 वर्ष तक उन्हें मन्त्रमुग्ध किए रखा था, अपनी शोकपूर्ण श्रद्धाजलि अर्पित करने के लिए आए। उनका शव एक जुलूस के रूप मे श्मशान घाट ले जाया गया, जहा हृदयद्रावक वातावरण मे उनके शव को अग्नि की ज्वालाओ के हवाले कर दिया गया। कलकत्ता के टाउन हाल मे एक विशाल सार्वजनिक सभा हुई, जिसमे उपस्थित लोगो ने गहरा शोक व्यक्त किया। बकिम की मृत्यु से शोक की ऐसी लहर दौड़ गई, जिसका दूसरा उदाहरण सहज ही नही मिल सकता।

बकिम को मृत्यु ने तब छीन लिया, जब वह प्रसिद्धि के शिखर पर थे। उनकी पुस्तको की बहुत माग थी। यहा तक कि उनके जीवनकाल मे ही प्रत्येक पुस्तक के कई-कई संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। उनके सामने ही उनके कई उपन्यासो का अनुवाद यूरोपीय और भारतीय भाषाओ मे हो चुका था। उनमे से कुछेक को नाटक रूप दिया गया था और बड़ी सफलतापूर्वक वे नाटक रगमच पर खेले भी जा चुके थे। अगर साहित्यिक मान्यता को किसी लेखक के जीवन की सिद्धि माना जाए, तो बकिम को नि.सन्देह यह विपुल मात्रा मे मिली।

तो भी यह कहना होगा कि एक राष्ट्रनिर्माता के रूप मे या समाज, सस्कृति और राजनीति के क्षेत्र मे उनके प्रभाव की दृष्टि से उन्हे पूरी मान्यता मृत्यु से पहले नही मिली। जैसे-जैसे समय गुजरता गया वैसे-वैसे लोगो को उनके रचनात्मक विचारो, उनकी तीव्र देशभक्ति, राष्ट्र-निर्माण की उनकी गहन उत्कण्ठा तथा आधुनिक प्रकाश मे देश की प्राचीन परम्पराओ की पुनर्व्याख्याओं के मूल्य का अनुभव हुआ। उनकी मृत्यु के ठीक ग्यारह वर्ष बाद बगाल के विभाजन के विरुद्ध जबरदस्त आदोलन सारे भारत मे फैल गया और उनका गीत 'वन्दे मातरम्' जन-जन तक पहुचा। इस प्रकार धीरे-धीरे उपन्यासकार बंकिम ने भारतीयों के दिलो मे भारतीय राष्ट्रीयता के एक ऐसे मसीहा के रूप मे स्थान बना लिया, जिसने उन्हे देश को मातृतुल्य मानना, अपनी राष्ट्रीय विरासत का सम्मान करना सिखाया।

8. बहुमुखी रचनात्मक प्रतिभा

बंकिम को "19वीं शताब्दी का भारत का महान उपन्यासकार"* कहा गया है या शायद उससे भी अधिक समीचीन "आधुनिक भारत की पहली महान रचनात्मक प्रतिभा" की संज्ञा दी गई है।** वस्तुत वह एक साहित्य-निर्माता थे। उन्होंने अपनी उपेक्षित मातृभाषा की बागडोर संभालकर उसमें नए प्राण फूंके और उसे प्राजलता और मर्यादा प्रदान की। एक प्रकार से उनकी तुलना अंग्रेजी के उन रोमांटिक लेखकों से की जा सकती है, जिन्होंने सौन्दर्य और रोमांस के नए संसार की रचना के लिए 18वीं शताब्दी की नीरस परंपरा पर लात मार दी। बंकिम ने भी साहित्य में नई रचनात्मक भावना भरने के लिए उसे कई प्रकार के बंधनों और बाधाओं से मुक्त कराया। भाषा को पंडिताऊपन से मुक्त कराकर वह उसे जन-सामान्य के धरातल पर लाए, ताकि बिना अपना सौन्दर्य, प्राजलता और मर्यादा खोए, वह शिक्षा के साथ-साथ मनोरंजन का माध्यम भी बन सके।

बंकिम के यश का मूल आधार, निश्चय ही उनके उपन्यास है। वस्तुतः आधुनिक आयाम में बंगला उपन्यासों की रचना का श्रेय उन्हीं को है। उनके इस क्षेत्र में आने से पहले बंगला साहित्य में सही अर्थों में उपन्यास थे ही नहीं। उसमें केवल आख्यायिकाएं, अनुवाद और रूपान्तरण ही थे। उपन्यास के अत्यन्त निकट कुछ था, तो वे थे रेखाचित्र, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। 'अलालेर घरेर दुलाल' में सम्पूर्ण उपन्यास की अधिकांश विशेषताएं थी, पर उसमें गहराई, विस्तार और सूक्ष्म विवेचन नहीं था, जो सामान्यतः उपन्यास की विशेषताएँ होती हैं। साहित्यिक विधा के रूप में बंगला में उपन्यास की रचना का काम बंकिम के लिए मानो छूटा हुआ था। उनका पहला ही उपन्यास 'दुर्गेश-नन्दिनी' बंगला उपन्यास के विकास में मील का पत्थर बन गया। हालांकि कला की दृष्टि से वह उतना परिपक्व नहीं था, पर उससे निश्चित आशा बंधती थी, जो उनके अगले ही उपन्यास 'कपालकुण्डला' में फलीभूत हुई।

---

* एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, 14वां संस्करण

** लिटरेरी हिस्ट्री आफ इण्डिया, फ्रेजर।

बंकिम के उपन्यासों की विशेषताएं क्या थीं? सामान्यतः यह माना जाता है कि उनके उपन्यासों का स्वरूप पाश्चात्य प्रेरित है। उन्होंने भारत में पाश्चात्य नमूने पर आधारित कथा-शैली को जन्म दिया। स्पष्टतः पश्चिम के महान उपन्यासकारों जैसे वाल्टर स्काट, लार्ड लिटन तथा अन्यों से उनका घनिष्ठ परिचय था। यह भी स्पष्ट है कि युवावस्था में रचनात्मक आत्माभिव्यक्ति की उनकी आन्तरिक इच्छा को पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से शक्ति और बल मिला। यह एक ऐसा पहलू है जिस पर भारतीय आलोचक उनसे नाराज हैं। उनका विचार है कि बंकिम ने भारतीय परिधान में पाश्चात्य सामग्री प्रस्तुत की।

पर यदि गहराई से विश्लेषण किया जाए, तो पता चलेगा कि उनके उपन्यासों की विषयवस्तु पूर्णत प्राच्य है। अपने प्रारम्भिक उपन्यासों–'दुर्गेशनन्दिनी' और 'कपालकुण्डला'–में, जिनमें वह रहस्यता के बन्धन से मुक्त विशुद्ध कलाकार हैं, उन्होंने तिलोत्तमा जैसे चरित्रों का सृजन किया है, जो भारतीय कुमारी के सभी गुणों से सम्पन्न है–प्रेममयी किन्तु शर्मीली, मधुर किन्तु निःस्वार्थ प्रेम और श्रद्धा रखने वाली। इसी प्रकार कपालकुण्डला भी भाग्य और नियति को मानती है, जो पूर्व की रहस्यात्मकता का अंग है। बंकिम ने अपने पात्रों और स्थितियों के माध्यम से, सामान्यत मानवीय सम्बन्धों और विशेषत पारिवारिक मामलों में जिन मूल्यों का समर्थन किया है, वे सब प्राच्य हैं। कहीं-कहीं वह सत्य की विजय और अपराधी को दण्ड दिलाने के लिए ही प्राकृतिक न्याय का सहारा लेते हैं। उनके कई आलोचकों का कहना है कि उन्होंने रोहिणी के जीवन का इतना लज्जाजनक अन्त, केवल पापिष्ठा स्त्री को दण्ड देने के लिए किया। शैवालिनी को भी प्रताप के साथ अपने अवैध प्रेम के लिए घुट-घुट कर प्रायश्चित करना पड़ा। भारतीय मूल्यों और नैतिकता के प्रति बंकिम का पूर्वाग्रह स्पष्ट है। साथ ही आधुनिक प्रवृत्तियों का भी उनकी कृतियों पर गहरा प्रभाव है। उदाहरण के लिए, उन्होंने ऐसी भावनाओं का चित्रण किया जो तत्कालीन सामाजिक मानदण्डों के विरुद्ध थीं, जैसे प्राग्-विवाह प्रेम, जिसको उन दिनों सामाजिक स्वीकृति प्राप्त नहीं थी। इसी प्रकार विधवा-विवाह, जो उन दिनों की ज्वलंत समस्या थी, उनके दो उपन्यासों की कथावस्तु का आधार है। ये कुछ प्रतिबिम्ब थे उन तनावों और दबावों के, जो पुरानी व्यवस्था के टूटने और नई व्यवस्था के उदय होने के कारण, उस समय विद्यमान थे जब बंकिम ने अपनी पुस्तकें लिखीं।

इसमें कोई सदेह नही कि उन्होंने पश्चिमी ढांचे को अपनाया, पर इसमें भारतीय भावनाएं पूरी तरह भर दी।

बंकिम के उपन्यासो का वर्गीकरण कठिन है, क्योंकि उनमें काफी-कुछ मिला-जुला है। उनमें से अधिकाश मे कुछ सामान्य आधारभूत विशेषताए है। वर्गीकरण मे इस कठिनाई के बावजूद उनके उपन्यासो को चार मुख्य वर्गों मे बाटा जा मकता है--रोमाटिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और सोद्देश्य उपन्यास। पर उनके कथा-साहित्य के इन चार मुख्य वर्गो की आधारभूत विशेषताओ मे भी मिश्रण है। बकिम मूलत. रोमाटिस्ट या रोमाचवादी थे--उनके सामाजिक उपन्यास भी रोमाटिक संस्पर्श से अछूते नही रहे। रोमास का उपजीव्य जीवन ही है, पर साथ ही वह उसके सौदर्य और भावावेगों, उसके वीरतापूर्ण और काल्पनिक पक्षो पर रग चढा कर उसे रूपान्तरित कर देता है। उपन्यास मे कला जीवन की वास्तविक परिस्थितियो की ओर जाती है, जबकि रोमास मे जीवन को उठा कर ऊंचे धरातल पर ले जाया जाता है। इस दृष्टि से 'दुर्गेशनन्दिनी', 'कपालकुण्डला', 'मृणालिनी', 'चन्द्रशेखर', 'आनन्दमठ', 'देवी चौधरानी', 'सीताराम'--सब रोमाटिक उपन्यास है। इसमे कोई सन्देह नही कि इनकी रचना वास्तविक जीवन के इर्दगिर्द अधिकाशत ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर की गई है; लेकिन ये जीवन को इस तरह रूपान्तरित करते है कि वह कहानी की ढाल के अनुसार सुखद या दुखद सपना बन जाता है।

कुशल कथावस्तु-निर्माण, श्रेष्ठ चरित्र-चित्रण, सहज कथा-प्रवाह, ऐश्वर्य-शाली वर्णन--ये है कुछ विशेषताए, जो उनके उपन्यासो मे बहुलता से मिलती हैं। उनके उपन्यासों का रोमाटिक उपादान मोहक है। पर उनके कुछ उपन्यास, उदाहरण के लिए 'चन्द्रशेखर' और 'सीताराम', रोमास के आधिक्य से पीड़ित हैं? यही नही, कल्पना की लम्बी उड़ान भरते समय बकिम ने चमत्कार और आकस्मिकता का सहारा लेने मे कभी सकोच नही किया। यह ठीक है कि उनसे कही-कही उनकी कृतियो का कलात्मक प्रभाव नष्ट होता है, तो भी यह कहना होगा कि बकिम मे कथावस्तु-निर्माण की अद्वितीय क्षमता थी। सब मे तो नही, किन्तु अधिकाश उपन्यासो मे उन्होंने आकस्मिकताओ और चमत्कारों का कथावस्तु मे इतनी सहजता और कुशलता से गुफन किया है कि पाठकों की कलात्मक सवेदनशीलता पर कोई बुरा प्रभाव नही पड़ता।

उपन्यासकार के रूप मे बंकिम उन्नीसवी शताब्दी की परम्परा के थे। कला की विधा के रूप मे उपन्यास उस समय से आज तक बहुत आगे बढ़ चुका है। उपन्यासो के विचारो और तकनीको मे बहुत परिवर्तन आ गया है। आज का कथा-साहित्य विश्लेषणात्मक और मनोवैज्ञानिक है। वह रोमाचकारी कथाओ या सम्मोहक विवरणो मे न जाकर मानव-मन की अतल गहराइयो मे झाकता है। स्वभावत बंकिम के उन्नीसवी शताब्दी के कथा-साहित्य के चरित्र आधुनिक रुचि के अनुकूल नही हैं, फिर भी बंकिम की कृतिया आज भी प्राचीन गौरव ग्रन्थो की भाति बहुत लोकप्रिय हैं। उनमे सौंदर्य और आकर्षण, प्राजलता और भव्यता का ऐसा आधार है जो समय के प्रभाव से किसी प्रकार म्लान नही पड़ सकता। ये गुण बदलती हुई साहित्यिक रुचियों से ऊपर है और वे सदा सराही जाएगी।

यहा यह भी ध्यान देने योग्य है कि बंकिम ने स्वयं भी इस प्रकार के कथा-साहित्य की रचना शुरू कर दी थी, जिसे बगला साहित्य मे मनोवैज्ञानिक कथा-साहित्य की धुधली शुरूआत कहा जा सकता है। उनके उपन्यास 'रजनी' मे पात्र आत्मकेन्द्रित वार्तालाप करते हैं और 'इन्दिरा' मे भी, जिसकी नायिका, 'मैं' शैली का प्रयोग करती है। ये ऐसे उपन्यास हैं जो भौतिक संसार की घटनाओ से मानसिक परिवर्तन की ओर जाते हैं।

इतिहास के प्रति बंकिम का लगाव उनके उपन्यासों मे सर्वत्र परिलक्षित होता है, जिसके कारण उन्हे 'सर वाल्टर स्काट आफ बगाल' की उपाधि मिली। ऐतिहासिक उपन्यासो मे ऐतिहासिक व्यक्तियो और परिस्थितियो का होना जरूरी है। पर क्या वे सब ऐतिहासिक तत्त्वो और ब्यौरो के अक्षरशः अनुरूप हों? इस संबंध मे मतभेद पाया जाता है। सामान्यत. यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक उपन्यास मोटे तौर पर इतिहास से मेल खाता हो, साथ ही उसमें लेखक की कल्पना को उन्मुक्त उड़ान भरने की छूट भी होनी चाहिए। इसका अर्थ यह नही कि ऐतिहासिक तथ्यो को तोड़ा-मरोड़ा जाए। पर लेखक को इतनी स्वतन्त्रता जरूर होनी चाहिए कि वह इतिहास की शुष्क अस्थियो मे प्राण फूक सके।

सामान्यत. यह कहा जा सकता है कि उपन्यासकार बंकिम इतिहास से जकड़े नही रहे। कथा-लेखन में बंकिम के शिष्य विख्यात इतिहासकार रमेशचन्द्र दत्त ने अपने उपन्यासो मे ऐतिहासिक तथ्यो को प्रथम स्थान दिया, पर बंकिम ने

ऐसा नही किया। उन्होंने अपने अधिकाश उपन्यासों मे इतिहास से कुछेक तथ्य लेकर उन पर मानवीय कथाओं की रचना की। कहीं-कहीं उन्होंने कथा का सबध व्यापक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से भी जोडा। उदाहरण के लिए, 'कपालकुण्डला' मे ऐतिहासिक प्रसंग एक ओर 'लुत्फुन्निसा' का नवकुमार से सबध और दूसरी ओर आगरा मे मुगल दरबार से सम्बन्ध देखने मे अटपटा लगता है, पर उन्होंने उसे कथावस्तु मे इस कुशलता से समाहित किया है कि उससे कथा मे अतिरिक्त रुचि उत्पन्न होती है। इस प्रकार उनके बहुत से उपन्यासों को अर्ध-ऐतिहासिक कहा जा सकता है। इतिहास से कथा का आधार मात्र लेने की स्वय आरोपित सीमा के प्रति सजग उन्होंने 'राजसिंह' को छोड़कर अपने किसी भी उपन्यास को ऐतिहासिक उपन्यास नही कहा। 'राजसिंह' को वह अपना पहला और अकेला ऐतिहासिक उपन्यास कहते थे। पर ऐसा कहकर उन्होंने अपने प्रथम उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' के प्रति, जिसमें एक ऐतिहासिक उपन्यास की सभी विशेषताएं विद्यमान हैं, न्याय नही किया।

'राजसिंह' की कथा औरंगजेब और राजपूत राजाओं के बीच सघर्षों के इतिहास पर आधारित है। 'राजसिंह' मोटे तौर पर ऐतिहासिक तथ्यों की पटरी पर चलता है। कहीं भी अतिरंजित कल्पना या पूर्वाग्रह के कारण ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़ा-मरोडा या रंगा नहीं गया है। एक छोटी-सी राजपूत रियासत रूपनगर की राजकुमारी उदयपुर के महाराजा राजसिंह का चित्र देखकर उस पर मोहित हो जाती है। इसके विपरीत वह हसी-हसी में मुगल सम्राट औरंगजेब के भयावह चित्र को ठोकर मार देती है। बदला लेने की भावना से औरंगजेब राजकुमारी को गिरफ्तार करने के लिए अपनी सेना रूपनगर भेजता है। अपनी राजपूत वशपरम्परा के प्रति स्वाभिमानिनी चंचलकुमारी मुगलों के पजो से छुड़ाने के लिए राजसिंह से प्रार्थना करती है। राजपूत शासकों में अकेला राजसिंह ही ऐसा है जो मुगलों के भीषण आक्रमणो के विरुद्ध सिर ऊंचा किए हुए है। वह उस असहाय राजकुमारी की सहायता का संकल्प कर लेता है और इस प्रकार औरंगजेब के साथ गंभीर टकराव को न्यौता देता है। स्त्रीसुलभ चपलता की एक मामूली घटना से शुरू होकर यह विवाद राजपूतों और मुगलों के बीच भयकर युद्ध का रूप धारण कर लेता है, जिसमें मुगलों को बार-बार पराजित होना पड़ता है। उपन्यास मे युद्ध की घटनाओं और मुगल सम्राट सहित समस्त मुगल सेनाओं की गतिविधियों का, जो राजसिंह की श्रेष्ठ युद्ध

नीति के कारण दुर्जेय पहाड़ी दर्रों के बीच फंस गई थी, बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। उपन्यास में एक के बाद एक चौंका देनेवाली रोमांचकारी घटनाएं तीव्रता से घटित होती हैं और पाठकों को मन्त्रमुग्ध किये रखती हैं। इस उपन्यास में बंकिम की कथा-गुंफन-कला सर्वश्रेष्ठ है और उनकी वर्णनशक्ति पराकाष्ठा पर है। चरित्रों का बहुत ही चित्ताकर्षक चित्रण किया गया है। चंचलकुमारी और राजसिंह के अतिरिक्त निर्मलकुमारी और माणिकलाल तथा मुबारक और जेबुन्निसा बंकिम की चरित्र-वीथिका के श्रेष्ठ चरित्रों में हैं। कलाकृति के रूप में यह उपन्यास बंकिम की श्रेष्ठतम रचनाओं में है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'चन्द्रशेखर' (1875) की पृष्ठभूमि भी ऐतिहासिक है। इसमें बंगाल के नवाब मीर कासिम और अंग्रेजों के बीच हुए संघर्ष का वर्णन है। ऐसा लगता है कि बंकिम इतिहास के उस संधिकाल में विशेष रुचि रखते थे, जिसमें मुस्लिम शासन के उत्तरोत्तर पतन और भारत में अंग्रेजों के प्रभुत्व के क्रमिक उत्थान का वर्णन है। उस युग में बार-बार राजशक्ति के क्षेत्र में जो शून्यता आई और जो अराजकता तथा अव्यवस्था उत्पन्न हुई उसका उनके उपन्यासों में कई बार वर्णन आया है। यह हमें आगे भी देखने को मिलेगा, पर 'चन्द्रशेखर' में उनके कुछ अन्य उपन्यासों की तरह ऐतिहासिक तथ्य को मानवीय कथा की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसमें बंकिम ने तीन व्यक्तियों के जीवन की गुत्थियों को नवाब और अंग्रेजों के बीच युद्ध की हलचल के कारण उत्पन्न राजनीतिक क्षेत्र की उथल-पुथल के साथ जोड़ा है। कहानी शैवलिनी और प्रताप के बीच अविवाहित प्रेम-प्रसंग को लेकर चलती है, जिसकी परिणति विवाह के रूप में नहीं हो पाती। उपन्यास का मुख्य केन्द्र शैवलिनी का चन्द्रशेखर के साथ विवाह हो जाने के बाद भी प्रताप के प्रति उसकी आसक्ति है। चन्द्रशेखर एक प्रौढ़ व्यक्ति है, जो विद्वान है और अनासक्ति का भाव रखता है। अत्यधिक शालीन होने के कारण वह अपनी युवा पत्नी को मानवोचित प्यार भी नहीं दे पाता। प्रताप एक आदर्श चरित्र है, जो अपने पीछे शैवलिनी को भटकता देखकर अपने जीवन की आहुति दे देता है, ताकि इस प्रकार शैवलिनी के बेचैन मन को शांति मिले। जहां तक शैवलिनी का प्रश्न है, उससे आत्मानुशासन और आत्मशुद्धि की कठिन प्रक्रिया का पालन कराया जाता है।

बंकिम की कृतियों में हमें कुछ श्रेष्ठ पुरुष पात्र मिलते हैं। ऐसे पात्रों का चित्रण अपेक्षाकृत सरल है। उनमें बहुत वैविध्य या जटिलता का अभाव है। इस दृष्टि

से उनके गौण पुरुष पात्र अपनी अच्छी या बुरी प्रवृत्तियों के कारण अधिक रोचक बन पड़े हैं। पर बंकिम ने अपनी कल्पना की समस्त उष्णता और शक्ति अपने स्त्री पात्रों पर उडेल दी है। ये स्त्रियां बहुत ही प्रभावशालिनी हैं। उनके स्त्री पात्रों से उनके कुशल कथावस्तु-निर्माण को गतिशीलता और शक्ति प्राप्त होती है। उनमें हमें मिलती हैं—प्रेममयी किंतु निराश गृहिणी सूर्यमुखी, चुपचाप पीड़ा सहन करने वाली कुन्दनन्दिनी से बिल्कुल भिन्न किस्म की स्त्री चालबाज विधवा रोहिणी, साधन-सम्पन्न विमला, जिसने कतलूखां से अपने पति की हत्या का बदला लिया और शैवलिनी, जो प्रताप के प्रति उत्कट प्रेम में हरदम बेचैन रहती है। इसी तरह के और भी कई पात्र हैं।

कुल मिलाकर बंकिम के उपन्यास सुन्दर कलाकृतियां हैं। उपन्यासकार के रूप में उनका दर्जा बहुत ऊंचा है। यही नहीं, उन्होंने कथा साहित्य के अतिरिक्त भी बड़ी संख्या में रचनाएं रचीं, जिनका विचार और दर्शन के क्षेत्र में महान योगदान रहा। ये रचनाएं अपने आप में इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि केवल उनके आधार पर विचारप्रधान साहित्य में बंकिम का अमर स्थान बन गया है। इस वर्ग में उनके असंख्य निबंध और समीक्षाएं, जो उन्होंने 'बंगदर्शन' में या अन्य स्थानों पर लिखी हैं, इतिहास, सामाजिक विज्ञान, धर्म, पुरातत्त्व, साहित्य और विज्ञान पर लिखे गए निबंध और प्रबंध आते हैं। यह सब उनकी दो महान कृतियों 'कृष्ण-चरित्र' और 'धर्मतत्त्व' और साथ ही 'कमलाकांत' के, जो अपने आप में एक विधा है और सबसे भिन्न है, अतिरिक्त थी।

बंकिम के बौद्धिक पैनेपन का यह जौहर रहा कि पिछली शताब्दी के आठवें दशक में ही उन्होंने पाश्चात्य विज्ञान की जटिलताओं को समझ लिया था और 'बंगदर्शन' के पृष्ठों में सरल किन्तु प्रभावकारी बंगला में उनकी व्याख्या आरम्भ कर दी थी ताकि सामान्य जनता उनको समझ सके। 'विज्ञान रहस्य' शीर्षक से संकलित ये निबन्ध सौरमण्डल, आदिमानव, गति और ध्वनि आदि विभिन्न विषयों से संबंधित थे। बंकिम को इस बात पर बहुत दुख था कि भारत में विज्ञान की चर्चा का अभाव रहा। अपने धार्मिक रुझान के बावजूद वह भौतिकवाद के इस लिए समर्थक थे कि वह देश के पुनरुत्थान के लिए वैज्ञानिक संस्कृति को आवश्यक मानते थे। उन्होंने कहा, "यदि आप विज्ञान की सेवा करेंगे तो विज्ञान आपकी सेवा करेगा, यदि आप विज्ञान के प्रति समर्पित होंगे, तो

विज्ञान आपके प्रति समर्पित होगा। किन्तु यदि आप विज्ञान की उपेक्षा करें तो वह आपके लिए प्राणघातक बन जाएगा।"* उन्होंने यह समझ लिया था कि आधुनिक यूरोप की शक्ति और समृद्धि विज्ञान के कारण है। जहां तक भार का संबंध है, उनका यह विचार था कि इस पर अंग्रेजों का आधिपत्य उनक वैज्ञानिक ज्ञान की श्रेष्ठता के कारण हुआ। वस्तुतः अपने वैज्ञानिक ज्ञान सहायता से अंग्रेज भारतीयों को नपुंसक बना रहे थे। बंकिम ने कुछ सम के लिए अंग्रेजों के राज्य का बना रहना अच्छा समझा, ताकि उनके माध्य मे कुछ वैज्ञानिक भावना, कुछ पाश्चात्य भौतिकवाद भारतीयों की नसों में जो अत्यधिक पारलौकिक बन चुके थे, प्रवेश कर सके। उनके 'धर्मतत्त्व' नामक ग्रंथ मे गुरु कहता है कि धार्मिक साधना के माध्यम से ईश्वर प्राप्ति पहले व्यक्ति को पाश्चात्य दिशादर्शन में प्रकृति और सामाजिक विज्ञा का अध्ययन करना चाहिए। इस प्रकार बंकिम ने विज्ञान और धर्म के बीच सेतु निर्माण का प्रयत्न किया।

उन्होंने साहित्यिक विषयों पर जैसे उत्तररामचरित, शकुन्तला, मिरान्ड डेस्डेमोना आदि पर कुछ निबन्ध लिखे। उनकी पुस्तक-समीक्षाएं भी साहित्यि आलोचनाओं का सुन्दर नमूना पेश करती है, जिनसे उनकी विद्वता और दू दृष्टि का पता चलता है। इन रचनाओं मे से कुछेक साहित्य के तुलनात्म अध्ययन के प्रारंभिक प्रयास कहे जा सकते है।

उन्होंने कुछ अन्य निबन्ध सामाजिक और ऐतिहासिक विषयों पर लिखे हैं ये निबन्ध बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें उन्होंने राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन को दृष्टि रखकर अनेक समसामयिक समस्याओं के समाधान प्रस्तुत किए है। उनकी दृ मे राष्ट्र की प्रगति के लिए प्रथम घटक उसका अपना इतिहास है। उनका कह था कि "जिस राष्ट्र का अपना इतिहास न हो, उसके कष्टों का कभी अन्त न हो सकता।" उन्हें इस बात पर बहुत खेद था कि भारत मे इतिहास की परम्प नहीं है। अगर यूरोपीय लोग पक्षियों का शिकार करने भी जाते है, तो उसका लेखा प्रस्तुत किया जाता है। उन्होंने यह अनुभव किया कि हम भारतीयों इतिहास-बोध नदारद है। अपने अतीत से अनभिज्ञ राष्ट्र कभी महान नहीं ब

---

* भारतवर्षेर विज्ञान सभा : 'बंगदर्शन' में प्रकाशित एक निबन्ध, जिसे बंकिम का बताया जा है, (बंकिम रचनावली)

सकता। अतः बंकिम ने पूरी शक्ति से यह प्रयत्न किया कि उस समय उपलब्ध सामग्री में से देश के अतीत का पुन. निर्माण हो। वस्तुत 1880 के लगभग उन्होंने भारत के एक सर्वतोमुखी इतिहास की रचना की योजना बनाई थी, पर दुर्भाग्यवश वे उसे पूरा नहीं कर पाए।

'भारत कलंक' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि प्राचीन भारतीयों में, जिनमें राजनीतिक कार्यवाही या राजनीतिक कल्याण के लिए कोई सामूहिक चेतना विद्यमान नहीं थी, राष्ट्रीय भावना और स्वतन्त्रता-प्राप्ति की ललक का सर्वथा अभाव था। वस्तुतः भारतीय इस प्रश्न के प्रति उदासीन दिखाई पड़ते हैं कि शासक मातृभूमि का पुत्र है या बाहरी लोग। प्राचीन भारतीय साहित्य और शास्त्रों में यद्यपि विभिन्न सद्गुणों का बड़े शानदार शब्दों में वर्णन है, फिर भी राष्ट्रीयता का उस रूप में कहीं जिक्र नहीं है जैसा कि आज हम समझते हैं। स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता की भावना इंग्लैंड द्वारा भारत को दिए गए दो उपहार हैं, जिनके लिए बंकिम अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञ थे। इसी सम्बन्ध में एक और निबन्ध है, 'भारतवर्षेर स्वाधीनता एवं पराधीनता' जिसमें उन्होंने वस्तुपरक दृष्टि से भारत में अंग्रेजी राज्य की अच्छाइयों और बुराइयों की इतिहास में वर्णित हिन्दू शासन काल से तुलना करते हुए उनका विस्तृत विश्लेषण किया है। उन्होंने बड़ी स्पष्टता से, जिसकी अपेक्षा सामान्यतः एक सरकारी अधिकारी से नहीं की जा सकती, यह बताया कि एक ऐसे शासक के अधीन जो देश का नागरिक नहीं है और जो दूर बैठ कर राज्य करता है, भारत को किन-किन अनर्हताओं का सामना करना पड़ रहा है। उन्होंने विशेषकर 'होम चार्जेज, जो भारत को इंग्लैंड के लाभ के लिए देने पड़ते थे, और न्यायिक भेदभाव की पद्धति, जिसमें एक भारतीय को किसी अंग्रेज का मुकदमा निपटाने का अधिकार नहीं था, (इस अन्याय का निराकरण करने की कोशिश इल्बर्ट बिल के माध्यम से की गई) का उल्लेख किया। साथ ही बंकिम ने यह भी अनुभव किया कि प्राचीन भारत में जातपात और ब्राह्मणवाद के कारण जनता के साथ कहीं अधिक भेदभावपूर्ण व्यवहार होता था।

जहां तक बंगाल के इतिहास का प्रश्न है, बंकिम की इस सम्बन्ध में अपनी धारणाएं थीं। उनका विश्वास था कि बंगाल के पतन के लिए जिम्मेदार पठान आक्रमण नहीं, मुगल साम्राज्यवाद था। मुगल बंगाल की सम्पत्ति लूट कर शाही

राजधानी दिल्ली में था। वे बंगाल के वास्तविक शत्रु थे, जबकि पठान मित्र थे।

राखालदास बंद्योपाध्याय जो स्वयं एक विख्यात इतिहासकार थे, के अनुसार बंकिम ने इतिहास के अध्ययन के लिए निष्ठापूर्वक वैज्ञानिक पद्धति अपनाई और सही अर्थों में बंगाल में ऐतिहासिक अनुसंधान की आधारशिला रखी।* नृवंशविद्या सम्बन्धी उनके अनुसंधानों के परिणामस्वरूप एक विचार-धारा सामने आई कि बंगाली मिली-जुली नस्ल के है और उनमें अनार्य रक्त ही अधिक है। अपनी कुछ अन्य रचनाओं में बंकिम सामाजिक, आर्थिक विचारों के प्रतिपादक के रूप में सामने आते है। ये विचार समसामयिक मानदंडों के अनुसार निश्चय ही अधिक क्रान्तिकारी थे। 'बंगदेशेर कृषक' शीर्षक अपने अनुपम निबन्ध में उन्होंने जोरदार ढंग से इस दावे का खण्डन किया कि देश अंग्रेजी राज्य में समृद्धि की ओर बढ़ रहा है। उन्होंने प्रतिपादित किया कि देश की समृद्धि का अर्थ समाज के उच्च वर्गों की समृद्धि नहीं बल्कि सारी जनता, विशेषकर गरीब किसानों, जो जनसंख्या का बहुसंख्यक भाग है, की समृद्धि है। उन्होंने कहा, "आज इस बात की काफी चर्चा है कि हम समृद्ध हो रहे है। यह कहा जाता है कि अब तक हम पतन की ओर जा रहे थे, पर ब्रिटिश शासन में हम अधिकाधिक सभ्य बन रहे है और विपुल सम्पन्नता की ओर अग्रसर है' ''समृद्धि की इस ऊहापोह में मुझे एक प्रश्न पूछना है यह समृद्धि किसकी है? क्या हाशिम शेख और राम कैवर्त यानी कथित ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे इस समृद्धि में भागीदार है? ये है वे लोग जो दोपहर की चिलचिलाती धूप में घुटनों गहरी कीचड़ में चलकर, हड्डियां निकले बैलों की जोड़ी और उधार लिए हुए भुथड़े हल की सहायता से कड़ी मेहनत करके फसल उगाते है। क्या वे समृद्धि में हिस्सा बटाने आते हैं?" इस प्रश्न के उत्तर में मैं कहूंगा नहीं, बिल्कुल नहीं, वे समृद्धि का रत्तीमात्र हिस्सा भी नहीं पाते यदि ठीक से गणना की जाए, तो उनसे देश बना है, क्योंकि जनसंख्या का अधिकांश भाग कृषक है।** यहां बंकिम कृषकों के प्रवक्ता है, जिनकी दयनीय स्थिति का उन्होंने एक समाज सुधारक की भावना से चित्रण किया है। आज का प्रगतिशील समाजवादी कृषकों के प्रति वही सहानुभूति प्रदर्शित करता है जो बंकिम ने एक शताब्दी पूर्व की थी।

* नारायण, वैशाख 1322 (बि. सं.)

** शार्ट सिलेक्शन्स फ्राम बंकिमचन्द्र के. एम. पुरकायस्थ

वंकिम ऐसा अनुभव करते थे कि बंगाल के किसानों के पतन का कारण परमानेंट सेटलमेंट (इस्तमरारी बन्दोवस्त) था। यह बन्दोवस्त भूमि के वास्तविक मालिकों के रूप में किसानों के साथ होना चाहिए था, न कि जमींदारों के साथ, जो अपनी स्थिति का लाभ उठाकर किसानों का शोषण करते थे और उन्हें अत्यधिक दयनीय स्थिति में पहुचा देते थे। प्रशासन के सभी स्तरो का व्यावहारिक ज्ञान होने के कारण वंकिम यह जानते थे कि भूमि-कानूनो के संबध में कहां-कहा अंग्रेजो ने कौन-सी भूलें की है और किस प्रकार वह किसानों की अन्तहीन पीड़ा के लिए उत्तरदायी हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था की समस्याओ पर राममोहन राय और उसके वाद के प्रगतिशील विचारकों का ध्यान केंद्रित था। दादाभाई नौरोजी ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया। बाद में इनका विस्तृत अध्ययन आर सी दत्त, रानडे आदि ने किया। उसीके आधार पर इंडियन नेशनल कांग्रेस, ने प्रस्ताव तैयार किये, जो हर अधिवेशन में दुहराए जाने लगे। वंकिम की कृतिया इस वात की साक्षी हैं कि इन समस्याओ, विशेषकर आर्थिक लूटमार और गरीवो के शोषण की समस्याओं, के सम्बन्ध मे वह उद्विग्न थे, यद्यपि सच्चे अर्थों मे वह कतई अर्थशास्त्री नही थे।

वंकिम के युवा मस्तिष्क में समानता का विचार रूसो और अन्य यूरोपीय लेखको की रचनाओ को पढकर संचरित हुआ। आगे चलकर इन विचारों का जिस प्रकार समाजवाद और साम्यवाद के सिद्धातों के रूप मे विकास हुआ, उससे भी वंकिम अनभिज्ञ नही थे। इसका पता उनके द्वारा दिए गए संदर्भ सकेतों से चलता है। पर उन्होंने कही भी मार्क्स का जिक्र नही किया, शायद इसलिए कि उन्होंने उसे पढ़ा नही था। ऐसा शायद मार्क्स की कृतियों के अंग्रेजी अनुवाद उपलब्ध न होने के कारण या अन्य किसी ऐसे ही कारण से हुआ होगा। पर समसामयिक मानदण्डो के आधार पर देखे, तो वंकिम के समानता संबधी विचारो मे काफी अग्रगामिता थी। 1879 मे उन्होंने 'साम्य' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित कराई, जिसमें 'बंगदर्शन' मे इस विषय पर प्रकाशित तीन लेख और बगाली कृषक पर लिखे निवध का एक भाग सम्मिलित था। 'साम्य' मे समानता सबंधी उनके उस समय के विचारो का सार है, जिस समय वह लगभग 30 वर्ष के थे। पर धर्म और दर्शन के प्रति उनके 'प्रगतिशील' दृष्टिकोण के कारण उनके विचारो मे कुछ परिवर्तन आया और सम्भवत. इसीलिए उन्होने इस पुस्तक को पुन: प्रकाशित नही कराया।

राजधानी दिल्ली ले गए। वे बंगाल के वास्तविक शत्रु थे, जबकि पठान मित्र थे।

राखालदास वंद्योपाध्याय जो स्वयं एक विख्यात इतिहासकार थे, के अनुसार बंकिम ने इतिहास के अध्ययन के लिए निष्ठापूर्वक वैज्ञानिक पद्धति अपनाई और सही अर्थों में बंगाल में ऐतिहासिक अनुसंधान की आधारशिला रखी।* नृवंशविद्या सम्बन्धी उनके अनुसंधानों के परिणामस्वरूप एक विचार-धारा सामने आई कि बंगाली मिली-जुली नस्ल के हैं और उनमें अनार्य रक्त ही अधिक है। अपनी कुछ अन्य रचनाओं में बंकिम सामाजिक, आर्थिक विचारों के प्रतिपादक के रूप में सामने आते हैं। ये विचार समसामयिक मानदंडों के अनुसार निश्चय ही अधिक क्रांतिकारी थे। 'बंगदेशेर कृषक' शीर्षक अपने अनुपम निबन्ध में उन्होंने ज़ोरदार ढंग से इस दावे का खण्डन किया कि देश अंग्रेजी राज्य में समृद्धि की ओर बढ़ रहा है। उन्होंने प्रतिपादित किया कि देश की समृद्धि का अर्थ समाज के उच्च वर्गों की समृद्धि नहीं, बल्कि सारी जनता, विशेषकर गरीब किसानों जो जनसंख्या का बहुसंख्यक भाग है, की समृद्धि है। उन्होंने कहा, "आज इस बात की काफी चर्चा है कि हम समृद्ध हो रहे हैं। यह कहा जाता है कि अब तक हम पतन की ओर जा रहे थे, पर ब्रिटिश शासन में हम अधिकाधिक सभ्य बन रहे हैं और विपुल सम्पन्नता की ओर अग्रसर हैं समृद्धि की इस ऊहापोह में मुझे एक प्रश्न पूछना है यह समृद्धि किसकी है? क्या हाशिम शेख और राम कैवर्त यानी कथित ऐरे-गैरे नत्थूखैरे इस समृद्धि में भागीदार हैं? ये हैं वे लोग जो दोपहर की चिलचिलाती धूप में घुटनों गहरी कीचड़ में चलकर, हड्डियां निकले बैलों की जोड़ी और उधार लिए हुए मुचड़े हल की सहायता से कड़ी मेहनत करके फसल उगाते हैं। क्या वे समृद्धि में हिस्सा बटाने आते हैं?" इस प्रश्न के उत्तर में मैं कहूंगा नहीं, बिल्कुल नहीं, वे समृद्धि का रत्तीमात्र हिस्सा भी नहीं पाते यदि ठीक से गणना की जाए, तो उनसे देश बना है, क्योंकि जनसंख्या का अधिकांश भाग कृषक है।** यहां बंकिम कृषकों के प्रवक्ता हैं, जिनकी दयनीय स्थिति का उन्होंने एक समाज सुधारक की भावना से चित्रण किया है। आज का प्रगतिशील समाजवादी कृषकों के प्रति वही सहानुभूति प्रदर्शित करता है जो बंकिम ने एक शताब्दी पूर्व की थी।

* नारायण, बैशाख 1322 (वि. स.)

** शार्ट सिलेक्शनस फ्राम बंकिमचन्द्र के एम. पुरकायस्थ

बंकिम ऐसा अनुभव करते थे कि बंगाल के किसानों के पतन का कारण परमानेंट सेटलमेंट (इस्तमरारी बन्दोबस्त) था। यह बन्दोबस्त भूमि के वास्तविक मालिकों के रूप मे किसानो के साथ होना चाहिए था, न कि जमींदारों के साथ, जो अपनी स्थिति का लाभ उठाकर किसानों का शोषण करते थे और उन्हें अत्यधिक दयनीय स्थिति मे पहुचा देते थे। प्रशासन के सभी स्तरों का व्यावहारिक ज्ञान होने के कारण बंकिम यह जानते थे कि भूमि-कानूनो के सबंध मे कहां-कहा अंग्रेजों ने कौन-सी भूलें की है और किस प्रकार वह किसानो की अन्तहीन पीडा के लिए उत्तरदायी हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था की समस्याओं पर राममोहन राय और उसके बाद के प्रगतिशील विचारकों का ध्यान केंद्रित था। दादाभाई नौरोजी ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया। बाद में इनका विस्तृत अध्ययन आर सी दत्त, रानडे आदि ने किया। उसीके आधार पर इंडियन नेशनल काग्रेस, ने प्रस्ताव तैयार किये, जो हर अधिवेशन में दुहराए जाने लगे। बंकिम की कृतिया इस बात की साक्षी हैं कि इन समस्याओं, विशेषकर आर्थिक लूटमार और गरीबों के शोषण की समस्याओं, के सम्बन्ध मे वह उद्विग्न थे, यद्यपि सच्चे अर्थों मे वह कतई अर्थशास्त्री नही थे।

बंकिम के युवा मस्तिष्क मे समानता का विचार रूसो और अन्य यूरोपीय लेखकों की रचनाओं को पढ़कर संचरित हुआ। आगे चलकर इन विचारों का जिस प्रकार समाजवाद और साम्यवाद के सिद्धातो के रूप मे विकास हुआ, उससे भी बंकिम अनभिज्ञ नही थे। इसका पता उनके द्वारा दिए गए संदर्भ संकेतो से चलता है। पर उन्होंने कही भी मार्क्स का जिक्र नहीं किया, शायद इसलिए कि उन्होंने उसे पढा नही था। ऐसा शायद मार्क्स की कृतियो के अंग्रेजी अनुवाद उपलब्ध न होने के कारण या अन्य किसी ऐसे ही कारण से हुआ होगा। पर समसामयिक मानदण्डों के आधार पर देखे, तो बंकिम के समानता संबंधी विचारो मे काफी अग्रगामिता थी। 1879 मे उन्होंने 'साम्य' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित कराई, जिसमे 'बंगदर्शन' मे इस विषय पर प्रकाशित तीन लेख और बगाली कृषक पर लिखे निबध का एक भाग सम्मिलित था। 'साम्य' मे समानता सबधी उनके उस समय के विचारो का सार है, जिस समय वह लगभग 30 वर्ष के थे। पर धर्म और दर्शन के प्रति उनके 'प्रगतिशील' दृष्टिकोण के कारण उनके विचारों मे कुछ परिवर्तन आया और सम्भवतः इसीलिए उन्होने इस पुस्तक को पुनः प्रकाशित नही कराया।

इस पुस्तक में उन्होंने समानता के तीन अवतार माने हैं—बुद्ध, ईसा-मसीह और रूसो। पर पुस्तक में आधुनिक समाजवाद और साम्यवादी विचारों की उत्पत्ति रूसो से मानी है और रूसो के भूमि के सामुदायिक स्वामित्व के सिद्धान्त पर इसमें काफी विस्तार से विचार किया गया है। लगता है बंकिम जान स्टुआर्ट मिल के इस सिद्धान्त से भी प्रभावित थे कि बच्चों को अपने पिता की उतनी ही सम्पत्ति मिलनी चाहिए जो उनकी शिक्षा और आजीविका के लिए नितान्त आवश्यक हो। शेष सम्पत्ति पर समाज का अधिकार होना चाहिए। उन्होंने जन्म या विरासत के रूप में मिलने वाले वंशागत अधिकारों के सिद्धान्त का जोरदार खण्डन किया। उनका कहना था कि जन्म एक संयोग है। गरीबी में पैदा होने वाले व्यक्ति को भी सुख पाने का उतना ही अधिकार है जितना एक सम्पन्न या उच्च घराने में जन्म लेने वाले व्यक्ति को। जिन व्यक्तियों को संयोगवश जन्म के कारण बड़ी सम्पदा विरासत में मिली है, उन्हें चेतावनी देते हुए वह कहते हैं, "बंगाली कृषक प्राणमण्डल उनके बराबर का है, उनका भाई है" और "प्राणमण्डल उस सम्पत्ति का अधिकारसम्मत भागीदार है जिसका वह अकेला उपभोग कर रहे हैं।" 19वीं शताब्दी के मध्य में प्रचारित वस्तुत: यह एक बहुत साहसी समाजवादी सिद्धांत था।

हेनरी टामस बकल का अनुसरण करते हुए बंकिम ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार जलवायु, भूमि और खानपान की आदतों के कारण प्राचीन भारत में एक निठल्ला वर्ग पैदा हो गया था, जो श्रमिक वर्ग, जिसकी स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होती जा रही थी, द्वारा किए गए अतिरिक्त उत्पादन से अपना निर्वाह करता था। इस सिद्धांत में बंकिम का अपना योगदान यह था कि प्राचीन भारत की ... पद्धति ... और बौद्ध धर्म, ने सांसारिकता में विरक्ति क... प्रा... कारणों से उत्पन्न वर्ग-विभाजन को ओ... आ... कि भारतीय समाज में वर्गभेद पत्थर क... है... श्रमिक वर्ग का अहित हुआ।

सारांश यह है कि ... के ... मान कर पूर्ण समा... में ... आपत्ति थी, वह ध... प्राचीन भारत की ...

और बंकिम के अनुसार यह भारत के पतन का एक महत्त्वपूर्ण कारण थी। इसलिए उन्होंने इस बात पर बल दिया कि जहा मनुष्य और मनुष्य में प्राकृतिक क्षमता एकसी हो, वहा अधिकारों की समानता अवश्य होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में उनका कहना था, "उन्नति के द्वार सबके लिए खुलने चाहिए।" बंकिम के अनुसार नागरिक, सामाजिक और आर्थिक समानता के विचार राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन का मूल आधार हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित ये विचार कुछ ही समय बाद पुनरुत्थानशील भारत के निर्देशक सिद्धान्त बने।

'कमलाकान्त' बंकिम की अन्तिम कृति होते हुए भी एक अद्वितीय साहित्यिक रचना है। इसमें हास्य और कवित्व, देशभक्ति और राजनीति सब कुछ एक में गुम्फित है। यह रचना परम्परागत साहित्यिक विधाओं के वर्गीकरण के अन्तर्गत नहीं आती। इसका निकटतम सादृश्य सम्भवतः डी क्वीन्सी की रचना 'द कन्फैशन्स आफ इंग्लिश ओपियम ईटर' है। 'कमलाकान्त' पुस्तक का हीरो एक पक्का अफीमची है, लेकिन डी क्वीन्सी के अफीमची की तरह उसे गठिया या दांत के दर्द के उपचार के लिए अफीम की आवश्यकता नहीं है। अफीम उसके जीवन का अंग बन गई है। इसके सहारे वह कल्पना के संसार में उड़ानें भरता है। कई दृष्टियों से 'कमलाकान्त' 'द कन्फैशन्स' से अधिक रोमांटिक है। इसमें बंकिम की कल्पना-शक्ति रचना-प्रक्रिया की औपचारिकता के कृत्रिम बन्धनों की चिन्ता किए बिना खूब ऊंची उड़ानें भरती है।

इस कृति का केन्द्रबिन्दु कमलाकान्त एक मनोरंजक चरित्र है। वह अर्द्ध-सनकी अफीमची है जो कवि, दार्शनिक, समाजशास्त्री, राजनीतिज्ञ, देशभक्त और पक्का ठलुआ है। प्रसन्ना नाम की एक दूधवाली उसे गरीब ब्राह्मण समझकर उस पर दया करके उसे रोज मुफ्त दूध दे देती है। उसे एक स्थानीय जमींदार नसीराम बाबू का संरक्षण प्राप्त है। कमलाकान्त के पास भौतिक सम्पत्ति के नाम पर दफ्तर या कागजों का एक बण्डल है, जिसमें उसके वे प्रलाप और हवाई महल बन्द है, जो अनिद्रा का निश्चित इलाज माने जाते हैं। ऐसा लगता है कि बंकिम के कुछ ऐसे विचार और चिन्तन थे, जिन्हें वह अपने उपन्यासों और प्रबन्धों के माध्यम से व्यक्त नहीं कर पाए। इन्हें कमलाकान्त यानी अनौपचारिक वेश में स्वयं बंकिम जैसे अपरम्परागत और असामान्य चरित्र के माध्यम से अर्द्ध-रोमांटिक और अर्द्ध-व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति की आवश्यकता

थी। बंकिम की अन्य कृतियों के संबंध में मतभेद हो सकता है, पर कमलाकान्त के संबंध में कोई मतभेद नहीं है।

यह पुस्तक तीन भागों में विभक्त है पहला भाग 'कमलाकान्तेर दपतर' व्यक्तिगत निबन्धों का संग्रह है, जिनमें कुछ हल्के-फुल्के हैं और कुछ गंभीर। दूसरा भाग 'कमलाकान्तेर पत्र' कमलाकान्त द्वारा 'वंगदर्शन' के सम्पादक को लिखे गए कल्पित पत्रों का संग्रह है, जो सुन्दर हंसी-मजाक से भरपूर हैं। और तीसरा भाग है 'कमलाकान्तेर जबानबन्दी' या कमलाकान्त के बयान। इसमें गाय की चोरी के एक मामले में न्यायालय में कमलाकान्त की गवाही का ब्यौरा है। यह बंकिम की एक अनुपम रचना है।

हास्य और रोमांस का सामान्यतः एक साथ निर्वाह नहीं हो पाता। लेकिन बंकिम हास्य और रोमांस दोनों के कलाकार थे। उनकी गम्भीर से गम्भीर रचना में भी मनोरंजन का पुट है। उनके लगभग सभी उपन्यास हंसी के ठहाकों से जीवंत बन गए हैं। पर अपने हास्य रेखाचित्रों में जिनका संकलन 'लोक रहस्य' में किया गया है और कुछ सीमा तक उनकी अन्य रचनाओं में भी, वह एक कटु व्यंग्यकार के रूप में सामने आए हैं और उन्होंने अपने युग की मूर्खताओं और चरित्रहीनता का बड़ी निर्दयता से पर्दाफाश किया है। विशेषकर उन्होंने पश्चिम की नकल की समसामयिक प्रवृत्ति और राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति समाज में व्याप्त तिरस्कार की भावना और अहमन्यता पर जबर्दस्त प्रहार किया है। 'हिम टू द इंग्लिश' यानी आंग्ल प्रशस्ति शीर्षक अपने एक रेखाचित्र में उन्होंने उस समय व्याप्त गुलाम मनोवृत्ति पर इस प्रकार व्यंग्य किया है "हे अंग्रेजो! मैं आपको नमन करता हूं हे परोपकारी जनो, मुझे भी कुछ वरदान दो। मैं आपकी सराहना करूंगा, जैसा आप चाहोगे वही कहूंगा, आपकी इच्छानुसार काम करूंगा, बस मुझे बड़ा आदमी बना दो। मैं आपको नमन करता हूं, हे सम्मान बांटनेवालो, मुझे भी उपाधियां दो जो कुछ भी आप कहोगे मैं वही करूंगा। मैं बूट और पेंट पहनूंगा, ऐनक लगाऊंगा, छुरी-कांटे से मेज पर भोजन करूंगा बस आप मुझसे प्रसन्न रहो।" बाबूवर्ग पर निर्दयतापूर्वक व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा कि बाबू वह है, जो न केवल अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त हो बल्कि आंख मूंदकर पश्चिमी वेश-भूषा, तौर-तरीकों और रीति-रिवाजों की नकल करता हो, सभी राष्ट्रीय वस्तुओं को हेय मानता हो और स्थानीय स्वशासन और स्वतन्त्रता के पश्चिमी नारों को तोते की तरह दोहराता हो। एक बन्दर से एक बाबू की आकस्मिक भेंट हो जाने पर बाब

वन्दर से अंग्रेजी में बातचीत करने लगा, जिसे सीधा-सादा बन्दर समझ नही पाया। बन्दर को उसपर क्रोध आ गया और उसने उसे दण्ड देने के लिए अपनी लम्बी पूछ घुमाकर उसकी गर्दन को जकड़ लिया और इस प्रकार अपनी शक्ति का परिचय दिया। एक और छोटी सी रचना मे बंकिम ने गधे को घर-घर व्यापी जानवर का दर्जा दिया, जो बहुत से स्थानों और संस्थाओ में बहुत-से लोगों के बीच भी देखा जा सकता है। उनकी 'रामायणेर समालोचना' (एक कल्पित पाश्चात्य आलोचक की ओर से) भी तथाकथित पाश्चात्य प्राच्य-विद्याविशारदो पर, जिन्होने हिन्दू धर्म और सस्कृति के अध्ययन के नाम पर उन्हे गलत समझा, उनकी गलत व्याख्या की और उन्हें हेय किया, एक व्यग्य है।

'लोक रहस्य' मे बंकिम एक सुधारक है और इसीलिए अपने व्यग्यो और कटूक्तियो में निर्मम हैं। 'कमलाकान्त' में भी उन्ही की भरमार है, पर वह रुचिकर हास्य से ओतप्रोत है, जिसमे कविता और रोमास के पुट से ताजगी झलकती है। सभ्य हास्य की पतली जाली के माध्यम से अर्धसुप्त, अर्धजागृत अफीमची विलाप करता है, शिक्षा देता है और मनोरजन करता है। इस प्रकार हंसी के ठहाकों और आसुओ की एक ऐसी बहुरगी छटा उत्पन्न हो जाती है, जो हृदय की गहराइयों को छूती है। यह 'स्विपट' की अपेक्षा 'चार्ल्स लैम्ब' की रचनाओ के अधिक निकट है।

अफीम के नशे मे कल्पना-जगत मे ऊची उड़ान भरकर कमलाकान्त जीवन के विभिन्न पहलुओ पर चितन करता है। वह कल्पना करता है कि पुरुष और स्त्री फलों की तरह लगते है, जो माया के प्रभाव से वृक्षों पर लटक रहे है। सरकारी अधिकारी आमों की तरह है, जो विदेशो से आयात किए गए है, पर देशी भूमि मे बस गए है, जो कच्चे होने पर खट्टे होते है और पकने पर मीठे हो जाते है, पर कई बार पकने पर भी खट्टे ही रह जाते है। एक दिन सध्या समय अफीम के नशे मे मदहोश कमलाकान्त देखता है कि उसके जमीदार सरक्षक के ड्राइगरूम मे लैम्प के शीशे के चारो ओर असंख्य पतंगे इकट्ठे हो गए है। उसे पीनक मे ऐसा सुनाई पड़ता है कि पतगे शिकायत कर रहे है कि अग्नि मे उनके जलने के अधिकार को लैम्प की शीशे की चिमनी ने व्यर्थ कर दिया है। कमलाकान्त को लगता है कि जैसे सब मनुष्य कीट-पतंगो की तरह हैं और उनमे से प्रत्येक मे अपने को जला डालने के लिए एक अग्नि मौजूद है—इच्छा की अग्नि, भावावेग या मोह की अग्नि। एक अन्य निबंध मे वर्णन है कि कमलाकान्त अपने प्रिय नशे मे

डूब कर यह सोचता है कि अगर वह नैपोलियन होता, तो क्या वाटरलू का युद्ध जीत सकता। अचानक पास ही 'म्याऊ' की आवाज सुनकर वह सोचता है कि अवश्य ही ड्यूक ऑफ वेलिंग्टन बिल्ली के रूप में उसके सामने खड़ा है और उससे अफीम की एक गोली माग रहा है। पर तभी उसे पता चलता है कि वह ड्यूक नहीं, वास्तव में बिल्ली थी, जो प्रसन्ना द्वारा मुफ्त दिए गए दूध को पी गई थी। वह गुस्से में बिल्ली को मारने के लिए दौड़ता है, पर वास्तव में वह क्रुद्ध नही है। दूध उसका नही है और न दूधवाली का ही, दूध तो मगला गाय का है, इसलिए बिल्ली को भी उसे पीने का उतना ही अधिकार है जितना कि उसे। इस प्रकार बिल्ली की म्याऊ से वह समाजवाद की शिक्षा लेता है। बिल्ली बड़ी कटुता से कहती है कि मनुष्य मार्जार जाति के प्राणियों अर्थात निर्धनों को खाद्य और पेय पदार्थों के उनके हिस्से से वंचित रखकर उनके प्रति अन्याय करते हैं। बिल्ली आगे कहती है, "तुम्हारे पेट भरे हुए हैं। तुम्हें हमारे खाली पेटों की पीड़ा का पता कैसे हो सकता है?" "भूख"—बिल्ली कहती है, "सब प्रकार की चोरियों का मूल है। चोर को फासी पर जरूर लटकाए, इसमे मुझे कोई आपत्ति नही है, पर शर्त यह है कि चोर को दण्ड देने से पहले न्यायाधीश कम से कम तीन दिन खुद फाका करे। अगर भूख न्यायाधीश को चोरी के लिए मजबूर नही करती, तो उसे चोर को दण्ड देने की पूरी स्वतंत्रता होगी।"

पुस्तक के दूसरे भाग मे कमलाकान्त द्वारा 'बगदर्शन' के सम्पादक को लिखे गए पत्रो मे हाजिरजवाबी, हास्य और व्यग्य की भरमार है। उनमे से एक पत्र मे कमलाकान्त देखता है कि वास्तविक जीवन मे उसके सामने दो प्रकार की राजनीति चल रही है, एक कमजोर की राजनीति और दूसरी शक्तिशाली की राजनीति। नाटक तेली शिब्बू के मकान मे घटित होता है, जिसमे एक छोटा-सा लडका तश्तरी से चावल ले रहा है। एक दुबला-पतला और भूखा कुत्ता वहां आता है और उस लड़के की तश्तरी मे से चावल के कुछ ग्रास लेने के लिए लालसा भरी नजर से उसकी ओर इगित करता है। उसके बाद धीरे-धीरे पूछ हिलाता हुआ याचना की मुद्रा मे वह उसकी ओर बढता है और अन्ततः लड़के का दिल पिघल जाता है। वह कुछ ग्रास उसकी ओर फेंक देता है, जिसे वह कुत्ता तुरंत चट्ट कर जाता है। इसी बीच गृहिणी बाहर निकल आती है और उस कुत्ते को एक पत्थर फेंककर मारती है जिससे बचता हुआ वह कू कू करता भाग जाता है। यह प्रार्थना और आवेदन-निवेदन की राजनीति है। दूसरी ओर

एक बैल खुशी-खुशी अपना चारा खा रहा है। इतने मे वहा एक भयकर आकृति वाला बैल आता है और पहले वाले बैल को एक तरफ धकेल कर गीला चारा खाने लगता है। बेहद गुस्से मे भरी हुई गृहिणी बैल की ओर झपटती है, ठीक वैसे ही जैसे कुत्ते की ओर झपटी थी, पर बैल डरने के बजाय फुफकार कर उस पर झपटता है और वह बेचारी अपनी जान बचाने के लिए वहा से भाग जाती है। उसके बाद बैल खूब पेट भरकर चारा खाता है और वहा से खुशी-खुशी चला जाता है। यह शक्ति की राजनीति है।

न्यायालय मे कमलाकान्त की गवाही एक छोटे एकाकी नाटक के समान नाटकीय रोचकता से परिपूर्ण और हाजिरजवाबी तथा व्यग्य से भरी हुई है। एक व्यक्ति को, प्रसन्ना की मंगला नामक गाय, जिसके दूध से बहुत लम्बे समय तक कमलाकान्त का भरण-पोषण होता रहा था, चुराने के अभियोग में न्यायालय मे पेश किया जाता है। प्रसन्ना फरियादी है और कमलाकान्त प्रसन्ना के पक्ष में गवाह है। कमलाकान्त और प्रसन्ना के वकीलो के बीच शब्दों और बुद्धि का युद्ध शुरू हो जाता है। वकील जब कमलाकान्त से जिरह करता है, तो एक बहुत ही नाटकीय स्थिति उत्पन्न होती है। वकील इस बात का प्रयत्न करता है कि कमलाकान्त गाय की शनाख्त करे, पर कमलाकान्त चतुर तर्कों और तीखे व्यग्यो द्वारा लगातार उसे टाल रहा है। पूरी जिरह एक सुन्दर रचना है, जो हंसी के फव्वारे के द्वारा जीवन्त बन गई है और न्यायालय के दृश्य का बहुत ही सजीव प्रतिनिधित्व करती है। सुनने मे असगत लगनेवाले तर्कों से कमलाकान्त यह विचार विठाता है कि प्रसन्ना गाय की वास्तविक मालकिन नही है, वह तो सिर्फ उसका दूध बेचती है और जो व्यक्ति वास्तव मे उस गाय का दूध पीता है, वह उसका असली मालिक है। जब न्यायालय के बाहर प्रसन्ना उसे मिलती है, तो कमलाकान्त उसे और वहां उपस्थित अन्य लोगो को यह कहकर अचम्भे मे डाल देता है कि उसे गाय चोर को दे देनी चाहिए। संस्कृत शब्द 'गौ' का अर्थ चाहे भूमि हो या गाय, वह तर्क देता है कि उसका उपभोग चोर ही कर सकते है। चाहे कोई माने या न माने, सिकन्दर के समय से आज तक का यही इतिहास रहा है। इस प्रकार वह अर्धपागल बौना दार्शनिक यह प्रश्न उठाता है, "अगर जबर्दस्ती से प्राप्त विजय का अधिकार मान्यता-प्राप्त है, तो क्या चोरी के अधिकार को भी उसी प्रकार मान्यता नही मिलनी चाहिए ? निष्कर्ष यह है कि वह दूधवाली को इतिहास और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अनुसरण

करने और गाय को चोर को सौंप देने की सलाह देता है, क्योंकि जबर्दस्ती (विजय) यदि अधिकार दिलाती है, तो चोरी भी उसी प्रकार अधिकार दिलाती है।

'कमलाकांतेर दप्तर' का ग्यारहवा निबंध 'आमार दुर्गोत्सव' (मेरा दुर्गोत्सव) कई दृष्टियों से एक अद्वितीय रचना है, जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस निबंध मे बंकिम पहली बार मातृभूमि की कल्पना मा के रूप मे करते है। यह विचार उनकी रचना 'आनंदमठ' मे पल्लवित और पुष्पित होता है, जैसा कि अगले अध्याय मे देखेंगे। इसी निबंध मे हमे 'वन्दे मातरम्' गीत का मूल सूत्र मिलता है। सम्भवत यह गीत लगभग उन्ही दिनो लिखा गया था जब इस निबंध की रचना हुई। जब हमारा राष्ट्रवाद अस्पष्ट और अस्फुटित था, तब इस मोहक निबंध मे कमलाकान्त एक सच्चे देशभक्त के रूप मे सामने आता है। वह देवी दुर्गा की पूजा मे तल्लीन रहने लगता है, जिसकी कल्पना मातृभूमि के रूप मे की गई है।

वार्षिक दुर्गापूजा समारोह के पहले दिन कमलाकान्त अधिक मात्रा मे अफीम खा लेता है और पीनक मे दुर्गा की मूर्ति के दर्शनो के लिए जाता है। वहा वह एक दिवास्वप्न देखता है, जिसका वर्णन वह इस प्रकार करता है, "मैंने एक दिवास्वप्न देखा। अचानक समय का समुद्र तेजी से बहता चारो दिशाओ में दूर-दूर तक फैल जाता है और मैं उस निस्सीम जल मे एक छोटे से तख्ते पर बैठा हुआ हू। तेज हवाओं से उद्वेलित उस लहराते समुद्र से ठीक ऊपर उस अनत और असीम अधेरे मे कुछ सितारे हैं, जो प्रकट होते है, छिप जाते है और फिर निकलते हैं। मैंने अपने आपको नितात एकाकी अनुभव किया और एकाकी

अनुभव करके मैं घबरा गया और अपने आपको असहाय, मातृहीन अनुभव करने लगा और पुकारने लगा। 'मा, ओ मा।' वस्तुत मैं काल समुद्र के पास अपनी मा की तलाश मे आया था। 'मा तुम कहा हो? मेरी मा कहा हो? इस उफनते विशाल समुद्र मे तुम कहा हो।' अचानक मेरे कानो मे दिव्य संगीत की ध्वनि पड़ने लगी। मानो अतरिक्ष प्रात कालीन सूर्योदय की तरह एक नीले चमकदार प्रकाश की ज्योति से देदीप्यमान हो उठा और ताजी हवा मन्द-मन्द बहने लगी। मुझे लहराते हुए समुद्र की सतह के अंतिम छोर पर देवी दुर्गा की सोने की मूर्ति दिखाई दी, ठीक वैसी ही जैसी उसकी वार्षिक पूजा के पहले दिन दिखाई दी थी। हा, मुझे लगा कि वही मेरी मा है, वस्तुत मेरी मा ' ' '—मेरी

मातृभूमि, मिट्टी की बनी यह देवी असंख्य हीरे-मोतियो से जडी हुई है, पर काल की अतल गहराइयो में कही छिपी हुई है ' ' ।

"वह देवी काल समुद्र के असीम अधकार मे डूब गई और उस अधकार और लहराते हुए समुद्र के जल के गर्जन ने समस्त विश्व को घेर लिया । तब मैंने दोनो हाथ जोड़कर अश्रुपूर्ण नेत्रो से प्रार्थना की, "प्रकट हो जाओ, हे मा, समुद्र से बाहर प्रकट हो जाओ । हम इस बार प्रतिज्ञा करते है कि भविष्य मे हम योग्य सन्तान सिद्ध होगे और सच्चे रास्ते पर चलेंगे, तुम्हारे मातृत्व का गौरव बढाएगे, तुम्हारे मातृत्व के अनुकूल सिद्ध होगे । हे मा, एक बार फिर प्रकट होने की कृपा करो । अब हम सब को भूल जाएगे । सभी भाइयों के साथ प्रेम से रहेंगे । दूसरो की भलाई के लिए कार्य करेंगे । हम पाप, अकर्मण्यता और इन्द्रियपरायणता का परित्याग करेंगे । प्रकट होओ, हे मां, प्रकट होओ । मै यहा अकेला विलाप कर रहा हूं । रो रहा हू, रोता जा रहा हूं । हे मां, लगता है अब मैं रोते-रोते अपनी आखों की ज्योति खो बैठूंगा ।

"मां ने प्रकट होने का अनुग्रह नही किया । क्या अब वह कभी भी प्रकट नही होगी ।"*

संक्षेप मे 'कमलाकान्त' एक उच्छ्वासभरी काव्यात्मक रचना है, जिसमें कल्पना की ऊंची उड़ाने भरी गई है । इसमे बड़ा सुन्दर हास्य है और उस युग की मूर्खताओ और चारित्रिक दुर्बलताओं पर व्यंग्य है, समाज, राजनीति और सामाजिक न्याय संबंधी प्रगतिशील विचार है और सर्वोपरि देशभक्ति का सुन्दर उद्घोष है, जो धार्मिक निष्ठा के स्तर को छूता है । कमलाकान्त बंगला साहित्य का पहला जागरूक देशभक्त है; साथ ही वह पहला समाजवादी दार्शनिक भी है ।

---

* शार्ट सिलेक्शन्स फ्राम बंकिमचन्द्र, के. एम. पुरकायस्थ

). मंत्र और मठ

1882 और 1887 के बीच प्रकाशित बंकिम के तीन उपन्यास 'आनंदमठ', 'देवी चौधरानी' और 'सीताराम' उस समय सामने आए, जब उनका मन समाज और जीवन की गंभीर समस्याओं में उलझा हुआ था। ये तीनों उपन्यास निश्चय ही राष्ट्रनिर्माण की दृष्टि से उनकी श्रेष्ठ कृतियां हैं। कुछ आलोचकों के अनुसार ये उनके जीवन की अनुपम उपलब्धियां हैं। पर कुछ अन्य व्यक्तियों के अनुसार इनमें कला की अपेक्षा संदेशात्मकता अधिक है। इस प्रकार ये बंकिम की सबसे विवादास्पद कृतियां हैं।

'आनंदमठ' की रचना 1880 के लगभग शुरू हुई और वह 1882 में पुस्तकाकार छपी। यह उपन्यास बंगाल के इतिहास की अपेक्षाकृत धुंधली अवधि पर आधारित है।

प्लासी के युद्ध से हेस्टिंग्स के सुधारों तक 'उत्तरदायित्वहीन शक्ति' और 'निर्मम सभ्यता' की अवधि भारत के इतिहास की सबसे अंधकारमय अवधियों में से एक थी। 'आनंदमठ' हमें 1770 के उन अराजकता के दिनों की ओर ले जाता है, जब एक अजीब दोहरी व्यवस्था के अधीन नवाब नाममात्र का शासक था और ईस्ट इंडिया कम्पनी दीवान के रूप में कार्य कर रही थी। नवाब को अपनी प्रजा के संरक्षण का अधिकार प्राप्त नहीं था, जबकि कम्पनी, जिसका मुख्य काम राजस्व इकट्ठा करना था, अधिकारसम्पन्न होने पर भी कानून और शांति को बनाए रखने की चिंता नहीं करती थी। परिणाम यह हुआ कि इस दोहरी व्यवस्था में जनता का दोहरा शोषण होता रहा, नवाब के कर्मचारियों द्वारा भी और कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा भी। उनकी निष्ठुर लूटमार वृत्ति के विरुद्ध जनता रक्षा की अपील भी नहीं कर सकती थी। बहुत से लोग अपना घर-बार छोड़कर डाकू और लुटेरे बन गए। उनकी दीन दशा को 1770 के दुर्भिक्ष ने और भी भयंकर बना दिया था। एक इतिहासकार के अनुसार, "यह दुर्भिक्ष इतना भयंकर था कि लोगों ने न केवल अपनी घरेलू चीजों बल्कि बच्चों तक को बेचा, घास-पात खाकर अपनी उदरपूर्ति की, यहां तक कि शवों का भक्षण भी किया।" ग्लैग का कहना है कि 1770

का वर्ष बगाल के लिए, जो पहले ही अन्य कष्टों से बुरी तरह पीड़ित था, 'दुर्भिक्ष का भयंकर अभिशाप' लेकर आया। इस प्राकृतिक आपदा के कारण जीवन की भयानक क्षति हुई। ऐसा अनुमान है कि प्रात की एक तिहाई जनसख्या मृत्यु का शिकार हुई।*

यह थी वह पृष्ठभूमि जिसको लेकर बकिम ने अपना उपन्यास 'आनदमठ' लिखा। मुख्य ऐतिहासिक तथ्य, जिसके आधार पर उपन्यास का तानाबाना फैला, सन्यासी विद्रोह नाम की प्रसिद्ध घटना है। ये सन्यासी उत्तर भारत से बंगाल के विभिन्न जिलो मे, विशेषकर उत्तरी जिलों मे, बड़ी सख्या मे आने वाले घुमन्तू तीर्थयात्री थे। हंटर ने उन्हे 'निरकुश लुटेरो का दल' कहा है, जो 'धार्मिक तीर्थयात्रा के बहाने बगाल के मुख्य भागों मे एक छोर से दूसरे छोर तक जहा कही भी उनके चरण पडते, भिक्षावृत्ति, चोरी और लूटपाट करता था।** लगता है दुर्भिक्ष के समय भूखो मरते बहुत से लोग उनमे शामिल हो गए। वारेन हेस्टिग्स के अनुसार ये सन्यासी ऐसे घुमन्तू तीर्थयात्री थे, जिनके न अपने घरद्वार थे, न परिवार और जो इस हद तक मजबूत, बहादुर तथा उत्साही थे कि उन पर जनता बहुत श्रद्धा रखती थी। उनके अतिरिक्त कुछ मुस्लिम फकीर भी थे, जिन्होंने हिन्दू सन्यासियों की तरह अपना गुट बना रखा था और जो कभी-कभी कम्पनी की सेना के विरोध में सगठित होकर कारंवाई करते थे।*** डा० आर सी. मजूमदार के अनुसार, "यह आदोलन दो विभिन्न दलों, हिन्दू सन्यासियो और मुसलमान फकीरों की ब्रिटिश-विरोधी गतिविधियो से शुरू हुआ, पर इसे भुखमरी मे पीड़ित किसानों, अधिकार-च्युत जमीदारों और नौकरी से बरखास्त सैनिकों की सहायता से बल मिला।"**** इस प्रकार ये संन्यासी उत्तर भारत के घुमन्तू तीर्थयात्री थे, जो हर वर्ष उत्तर बंगाल के जिलो और कभी-कभी बंगाल के निचले भागों में भी आते थे और वहा लूटमार करते थे। ऐसा करते हुए उनकी कम्पनी की सेनाओं से जबर्दस्त मुठभेड़ होती थी, जिससे अक्सर अग्रेजों को भारी हानि उठानी पड़ती थी। बंकिम ने इन विद्रोही घुमन्तुओं मे से कुछेक को उत्कृष्ट देशभक्त के रूप में प्रस्तुत किया, जिन्होंने उस समय की अन्याय और अत्याचारपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व किया। इस

* मेमायर्स आफ वारेन हेस्टिंग्स

** एनल्स आफ रूरल बगाल

*** सन्यासी एण्ड फकीर रेडर्स इन बंगाल : [illegible]

**** हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, खण्ड 1)

प्रकार इतिहास मे उपलब्ध सामग्री का बंकिम ने बड़े ही सुदर ढंग से रूपातरण किया है। बंकिम इतिहास से केवल इतना ही हटकर चले हैं कि इतिहास के संन्यासी देशभक्त नही थे, जैसा कि उन्होने 'आनदमठ' मे बना दिया है। पर ऐसा करने में बंकिम का लक्ष्य ऐतिहासिक उपन्यास लिखना नही था। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, उन्होंने ऐतिहासिक पटल पर देशभक्ति के दृष्टात प्रस्तुत किए हैं। सन्यासियों के विद्रोह और 1770 के भीषण दुर्भिक्ष सबधी, उपन्यास में व्यक्त ऐतिहासिक तथ्य प्रामाणिक है। इसी प्रकार समसामयिक समाज की स्थिति भी वैसी ही थी जैसी चित्रित की गई है। शेष के लिए बंकिम ने अपनी कल्पना का खुलकर प्रयोग किया है। उनका ध्येय इतिहास का छायाचित्र प्रस्तुत करना नही है, बल्कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए इतिहास की सामग्री का सुदर काल्पनिक रूपातरण करना है। इसलिए उनसे सम्पूर्ण रूप मे ऐतिहासिक प्रामाणिकता की आशा नही की जा सकती।

पुस्तक के आरम्भ मे एक संक्षिप्त प्रस्तावना दी गई है, जिससे काफी स्पष्ट सकेत मिलते हैं। एक घने और अधकारमय जंगल की भयानक नीरवता मे दो रहस्यात्मक आवाजें सुनाई पड़ रही हैं—एक अपने सकल्प की पूर्ति के लिए अपने जीवन का बलिदान करने को तैयार है, पर दूसरी उससे भक्ति और निष्ठा की माग करती है। इन दो छायामयी आकृतियों को व्यक्ति के रूप में परिणत किए बिना धुधली रूपरेखाओ मे यह सकेत मिलता है कि उसके बाद की कहानी कठोर-सकल्प और उससे भी कष्टपूर्ण समर्पण की कहानी है। उसके बाद कहानी शुरू हो जाती है।

दुर्भिक्ष के कारण पूरी तरह ध्वस्त पदचिन्ह नामक गाव मे मृत्यु और अभाव की भयंकरता छाई हुई है। एक जमीदार महेन्द्रसिंह भयंकर अभाव के वातावरण मे अपने आपको बिल्कुल एकाकी पाता है और अपनी पत्नी कल्याणी और छोटी-सी लड़की सुकुमारी को साथ लेकर भोजन की तलाश में निकलता है। अचानक मार्ग मे घटना-विपर्यय के कारण पति और पत्नी बिछुड़ जाते हैं। कल्याणी डाकुओं के चगुल मे फस जाती है, पर अपना होशियारी से बच निकलती है। बाद मे वह आनदमठ के प्रमुख सत्यानद के सरक्षण मे पहुच जाती है।

बाहरी दुनिया से बहुत दूर आनदमठ संन्यासी देशभक्तो का मठ है, जो घने जगलो मे छिपा है। एक बहुत बड़ा आंशिक रूप से विध्वस्त वैष्णव भवन है,

महेन्द्र ने देखा कि डाकू की आंखों में आंसू छलक आये हैं। उसने आश्चर्य चकित होकर पूछा—"आप कौन हैं ?" भवानन्द ने उत्तर दिया, "हम 'संतान' हैं।" "संतान' से आपका क्या मतलब है, आप किसकी संतान हैं ?" महेन्द्र ने पूछा। भवानन्द ने उत्तर दिया, "मातृभूमि की संतान।" महेन्द्र के मन में अब भी शंका बाकी थी। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि लूटमार और डकैती से मातृभूमि की पूजा कैसे की जा सकती है ? भवानन्द ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा— चूंकि नवाब शोषण, अत्याचार और अव्यवस्था से अपनी प्रजा का संरक्षण करने में असफल रहा और वह राजस्व प्राप्त करने के अधिकार से वंचित हो गया है, इसलिए धन पर अयोग्य और अधिकार-च्युत नवाब का कोई अधिकार नहीं है।

सत्यानन्द स्वयं महेन्द्र का बड़े सद्भाव से आनंदमठ में स्वागत करता है और उसे मठ में ले जाकर मातृभूमि के विभिन्न स्वरूपों का दर्शन कराता है। सबसे पहले वह उसे विष्णु की मूर्ति दिखाता है। विष्णु माता की आकर्षक मूर्ति को अपनी गोद में लिए हुए हैं। उसके बाद वह मातृभूमि के अन्य स्वरूपों का दर्शन कराता है।

सन्यासी (सत्यानन्द) महेन्द्र को एक अन्य कमरे में ले जाता है। वहां उसे जगद्धात्री की मूर्ति के दर्शन होते हैं, जो सुन्दर, सर्वगुणसंपन्न और सभी आभूषणों से सज्जित है। "यह कौन है ?"—महेन्द्र ने पूछा। ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया, "यह माता है जैसी वह थी।' उसने जंगल के हाथियों और सभी जंगली जानवरों को पददलित किया है और जंगली जानवरों के आश्रयस्थल के मध्य कमल-सिंहासन पर विराजमान है। वह प्रत्येक आभूषण से सज्जित, हंसती हुई अत्यन्त रमणीय लग रही है। अपने समस्त वैभव और साम्राज्य में देदीप्यमान वह उगते हुए सूर्य की तरह आभायुक्त है। माता को प्रणाम करो।"

महेन्द्र ने श्रद्धापूर्वक मातृभूमि की मूर्ति को विश्व-संरक्षिका के रूप में प्रणाम किया। उसके बाद ब्रह्मचारी ने उसे एक भूमिगत अंधेरा रास्ता दिखाया और कहा, "इधर आओ।" महेन्द्र सावधान होकर उसके पीछे चल पड़ता है। उस अंधेरे कमरे में मिट्टी के प्यालों में किसी अदृश्य छिद्र में से मद्धिम प्रकाश प्रवेश कर रहा था। उस प्रकाश में उसने काली की मूर्ति देखी। ब्रह्मचारी ने कहा— "अब माता को इस रूप में देखो।" महेन्द्र ने कहा—"यह काली है।" "हां,

काली, अधकार मे घिरी, पूर्ण रूप से काली और अन्धकार में डूबी। उससे सब कुछ छीन लिया गया और इसीलिए वह निर्वसना है। आज सारा देश एक कब्रिस्तान बना हुआ है, इसीलिए मा के गले मे नरमुडो की माला है। स्वयं वह अपने भगवान को पददलित कर रही है। आह! मेरी मा।" संन्यासी के नेत्रों से अश्रु-धारा बह निकली। "पर इन्होने अपने हाथ मे गदा और नरमुण्ड क्यो ले रखे हैं?" "हम संतान है, हमने अपने सब शस्त्र अपनी मा के हाथो मे सौप दिए हैं।"

महेन्द्र ने 'बन्दे मातरम्' कहा और काली के समक्ष नत-मस्तक हो गया।

"अब इस मार्ग से आओ," सन्यासी ने कहा और एक अन्य भूगर्भित जीने से चढ़ने लगा। अचानक प्रात कालीन सूर्य का प्रकाश उसकी आखों पर पड़ा और चारों ओर से पक्षियो की मधुर चहचहाहट सुनाई पड़ने लगी। संगमर्मर से निर्मित एक विशाल मदिर मे उन्होंने दस हाथों वाली देवी की सोने की भव्य प्रतिमा देखी, हसती हुई, प्रात.कालीन सूर्य के प्रकाश मे देदीप्यमान। सन्यासी ने मूर्ति को प्रणाम किया और कहा, "यह मा है, जैसा कि उसे होना है। इसके दस हाथ दस दिशाओ मे फैले हुए है और उनमें जो बहुविध शस्त्र हैं, वे अनंत शक्ति के प्रतीक है। शत्रु उसके पैरो तले दलित हैं और जिस सिंह पर उसका पैर टिका हुआ है, वह शत्रुओं के विनाश मे संलग्न है। उसके बाहु को ध्यान से देखो··· अनेक शस्त्रधारिणी, शत्रुओ का दमन करने वाली, शेर की सवारी करनेवाली, जिसके दायी ओर समृद्धि की प्रतीक लक्ष्मी है और बायी ओर ज्ञान-विज्ञानदायिनी सरस्वती है, जिसकी शक्ति कार्तिकेय है और जिसकी सफलता गणेश है। आओ, इस माता को नमस्कार करो····"

दोनों व्यक्तियों ने विस्मय और प्रेम से नीचे झुक कर अभिवादन किया। जब वह उठे तो महेन्द्र ने रुंधे हुए स्वर मे पूछा, "मुझे मातृभूमि के इस स्वरूप के दर्शन कब होंगे?" ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया, "जब मातृभूमि के सभी पुत्र उसे माता के नाम से पुकारना शुरू कर देंगे, उस दिन माता हमें कृतार्थ करेंगी।"

एक पवित्र समारोह में सत्यानन्द ने महेन्द्र को 'संतान' सम्प्रदाय में, जिसमे कुछ निश्चित कठिन प्रतिज्ञाओ का पालन आवश्यक था, दीक्षित किया। जब तक मातृभूमि अत्याचारो और कुशासन से, शोषण और अधार्मिकता से मुक्त नही हो जाती, तब तक एक 'सन्तान' के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने समस्त परिवार, पत्नी और बच्चों, धन-दौलत और खुशियो का परित्याग करे, अपनी

सब इन्द्रियों, इच्छाओं का पूरी तरह दमन करे और अपने धर्म के लिए शत्रुओं से युद्ध करे और रणक्षेत्र मे कभी पीठ दिखा कर न भागे। उसे जातिवाद को भी तिलांजलि देनी पड़ती है, क्योंकि 'सन्तान' सम्प्रदाय मे जात-पात का कोई भेद-भाव नही है। इस प्रकार महेन्द्र पूरी तरह 'सन्तान' सम्प्रदाय का सदस्य हो गया और सत्यानन्द के आदेश से अपने गाव वापस चला गया ताकि वहा एक दुर्ग का निर्माण करे और शस्त्रास्त्रो के उत्पादन का कार्य कर सके।

धार्मिक सकल्पों की इस शुष्क गाथा मे बंकिम ने मुख्य कथानक के साथ दो रोचक प्रसग कुशलता से गुम्फित कर उसे दिलचस्प बना दिया है। जीवानन्द 'सन्तान' सम्प्रदाय मे सम्मिलित होने के लिए अपनी पत्नी शांति को गाव में छोड़ कर चला जाता है, पर चूकि शांति का पालन-पोषण बेटी की तरह नही बेटे की तरह हुआ था, इसलिए वह सामान्य स्त्रियो से कही ज्यादा बहादुर है। वह अपने पति के महान कार्य मे किसी प्रकार बाधक बनने के लिए नही, अपितु सहायक बनने का सकल्प करके पुरुष वेश मे आनदमठ पहुचती है। पर सत्यानद से उसका भेद छिपा नही रहता। शांति का चरित्र भारतीय स्त्रीत्व के सामान्य मानदण्डों से हटकर है और यह कहा जाता है कि उसके चरित्र के निर्माण मे विदेशी प्रभाव है। पर चाहे वह कितनी भी वीर और साहसी हो, मूल रूप से वह एक भारतीय स्त्री है, जो अपने पति और उसके सकल्प के प्रति पूरी तरह समर्पित है।

एक और प्रसग मे हम यह देखते है कि 'सन्तान', जिसने सर्वाधिक कठिन शपथ ले रखी है, अन्ततोगत्वा एक सन्तान ही है और वह भी आचार के कड़े नियमो से च्युत हो सकता है। सत्यानन्द का सहयोगी भवानन्द कल्याणी से प्रेम करने लगता है और उसकी ओर प्रेम के हाथ बढाता है, यद्यपि उसमे वह सफल नही होता। एक 'सन्तान' के लिए निर्धारित आचार के कठोर नियमों को भग करने का अपराध करने के पश्चात्ताप के रूप मे, भवानन्द बाद मे होने वाले एक युद्ध मे 'वन्दे मातरम्' गाता हुआ अपने जीवन की आहुति दे देता है।

'सन्तानों' का अग्रेजो और उनके सिपाहियो से दो बार घमासान युद्ध हुआ। यद्यपि अंग्रेजो के पास अस्त्र-शस्त्र अधिक थे, पर सन्तानो के, जिनके लिए, 'वन्दे मातरम्' अर्थात् 'मारो या मरो' युद्ध घोष था, भयकर वेग के सामने वे टिक नही सके। एक युद्ध मे कैप्टन टामस मारा गया और दूसरे मे मेजर एडवर्ड्स अपने सभी सैनिको सहित तहस-नहस हो गया। इस प्रकार 'सन्तानों' की भारी विजय हुई।

'वन्दे मातरम्' हजारो होठो मे ध्वनित, प्रतिध्वनित होने लगा। अराजक और अधार्मिक शासन को भयंकर आघात पहुचा। विजयी संन्यासी सेनाध्यक्ष सत्यानंद अब हिन्दू राज्य सुदृढ करने की योजना बनाता है।

उसके बाद कथा मे एक अत्यधिक अप्रत्याशित मोड आता है, जिसमे विजय सन्यास के रूप मे परिणत हो जाती है। इस महान विजय के समय एक रहस्यमय व्यक्ति, जिसे लोग डाक्टर कह कर बुलाते है, सत्यानद के पास आता है और कहता है कि विजय के फलो का परित्याग कर दो और हिन्दू साम्राज्य का स्वप्न देखना छोड़ दो। उसके बाद डाक्टर सत्यानन्द से अनुरोध करता है कि तुम सब कुछ त्याग कर मेरे साथ हिमालय चलो। सत्यानद सोचता है कि उसका सकल्प तब तक अधूरा है, जब तक एक न्यायिक शासन की स्थापना नही हो जाती और संन्यास के लिए उस डाक्टर के आह्वान पर वह स्तम्भित हो जाता है। पर डाक्टर कहता है कि लूट-मार और डकैती, चाहे उनकी प्रेरणा कितनी ही देशभक्तिपूर्ण क्यो न हो, मूल रूप मे अपराध है और इनसे देश की मुक्ति नही हो सकती और न ही इस प्रकार धार्मिक और नैतिक आधार पर राज्य की स्थापना हो सकती है। डाक्टर ने कहा, "सत्यानद, अपना दिल छोटा न करो। तुमने निर्णय लेने मे भूल की, तुमने डकैती करके धन एकत्र किया और युद्ध जीता। पाप के माध्यम से सच्ची सफलता कभी नही मिल सकती। इसलिए देश को बचाने मे तुम निश्चय ही असफल रहोगे। यही नही, अब जो कुछ होगा, वह अच्छाई के लिए ही होगा। यदि अंग्रेज भारत पर राज्य नही करते, तो शाश्वत धर्म के पुनरुज्जीवन की कोई सभावना नही है। धैर्यपूर्वक सुनो। मैं तुम्हें वह बताता हू जिसे प्राचीन महापुरुषो ने समझा और प्रत्यक्ष किया है। तैंतीसकरोड़ देवी-देवताओ की पूजा शाश्वत धर्म नही है। वह निम्न कोटि का प्रचलित धर्म है। वास्तविक हिन्दू धर्म का आधार क्रिया नही, ज्ञान है····अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से भौतिक विश्व का ज्ञान तो प्राप्त करेंगे ही, साथ ही वे आतरिक ज्ञान प्राप्त करने योग्य भी हो जाएगे।····जब तक हिन्दू बुद्धिमान, योग्य और सुदृढ नही हो जाते, तब तक ब्रिटिश राज्य बना रहेगा।····।" "····विराग उत्पन्न हो गया और सफलता को अपने साथ ले गया···।"

इस प्रकार 'आनदमठ' एक मामूली उपन्यास नही है। यह एक विशेष उद्देश्य को लेकर लिखा गया है। शुद्ध कला की दृष्टि से देखने पर हो सकता है, इस उपन्यास में कुछ दोष नजर आएं। उदाहरण के लिए—यह आकस्मिक घटनाओं पर अधिक

निर्भर करता है। कुछेक चरित्रों को अत्यधिक आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें बहुत अधिक उपदेशात्मकता है। उपदेशात्मकता के सामने कला पीछे रह जाती है। इसमें कथानक, चरित्र और अन्य विवरण भी बंकिम के अन्य उपन्यासों की अपेक्षा कम मुखर हैं और कहानी के मूल स्वर मातृभूमि की मुक्ति के अनुसार सचालित हैं। महान लक्ष्यपूर्ति के लिए इसमें कठिन त्याग की शपथ द्वारा तब तक सर्वोच्च बलिदान का आह्वान किया गया है, जब तक मातृभूमि परतंत्रता के बंधन से मुक्त नहीं हो जाती।

कुछ व्यक्तियों के अनुसार 'आनंदमठ' की रचना की मूल प्रेरणा महाराष्ट्र के वासुदेव बलवंत फड़के, जिसे डा आर सी मजूमदार ने, 'भारतीय सैनिक राष्ट्रवाद का जन्मदाता' कहा है, की गुप्त क्रांतिकारी गतिविधियों से मिली।* फड़के 1879 में गिरफ्तार हुए थे और 1880 में उन्हें आजीवन कारावास मिला था और लगभग उसी समय बंकिम ने 'आनंदमठ' लिखना शुरू किया था। फड़के के मुकदमे की कार्रवाई कलकत्ता प्रेस में प्रकाशित हुई थी और उनका जीवन वृत्तान्त भी एक बंगला पत्रिका में प्रकाशित हुआ था।

चाहे प्रेरणा का स्रोत कोई भी क्यों न रहा हो, यह स्पष्ट है कि बंकिम ने इसकी रचना विशुद्ध देशभक्ति के उद्देश्यों से की थी। बंकिम का यह विचार था कि देशभक्ति आधुनिक गुण है, जो अंग्रेजों से प्राप्त हुआ है, जिसका प्राचीन हिन्दुओं में अभाव था, इसलिए 'आनंदमठ' में उन्होंने प्राचीन, धार्मिक प्रतीकों के माध्यम से देशभक्ति की आधुनिक आकांक्षा उत्पन्न की। इतिहास के संन्यासी, जिनकी विद्रोही गतिविधियों के आधार पर कथानक का निर्माण हुआ है, कतई देशभक्त नहीं थे और वे राष्ट्रीय स्वाधीनता की पुनीत भावना से प्रेरित नहीं थे। भले ही एक ढंग से उन्होंने अंग्रेजों को अपना शत्रु समझा हो। पर बंकिम ने उन्हें संगठित सामूहिक कार्रवाई की भावना और यूरोपीय राष्ट्रीय एकता पर आधारित आधुनिक देशभक्ति के गौरव और गरिमा से परिपूर्ण किया। ये तगड़े संन्यासी भारतीय शांतिप्रिय संन्यासियों से भिन्न हैं। एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। प्रारम्भ में माता को विष्णु की गोद में बैठा हुआ दिखाया गया है। सत्यानंद के अनुसार 'संतान' सम्प्रदाय इस दृष्टि से वैष्णव है कि 'संतान' विष्णु की पूजा करते हैं, पर वे वैष्णव धर्म की अहिंसा में विश्वास नहीं रखते। यह शक्तिपूजा और विष्णु-

* आनन्दमठेर उत्स, चित्तरंजन बंद्योपाध्याय, युगान्तर, पूजा अंक, 1374 (ब. सं.)

पूजा के बीच सश्लेषण का प्रयास है। इस नये सम्प्रदाय मे मातृभूमि की मुक्ति के लिए शक्ति के प्रयोग का निषेध नही है। विश्व के संरक्षक के रूप में विष्णु स्वयं शक्ति के प्रतीक है।

'आनदमठ' अंग्रेजी शासन को स्वीकार करने की अपेक्षा उसके प्रति समर्पण के भाव के साथ समाप्त होता है। कुछ आलोचकों का मत है कि बंकिम ने ऐसा आत्मनिषेध सरकारी नौकरी में होने के कारण किया। पर यह आवश्यक नही कि यह व्याख्या ठीक हो। उस युग के बहुत से व्यक्तियो की तरह बकिम स्वय भी शायद यह मानते थे कि देश के, विशेषकर विज्ञान और भौतिकता के क्षेत्र मे देश के पुनरुज्जीवन के लिए कुछ समय तक अंग्रेजो का शासन आवश्यक है और उस सीमा तक उन्होंने उसका स्वागत किया। साथ ही यह बताना जरूरी है कि उन्होंने विदेशी शासन को देश के तत्कालीन इतिहास मे अंतिम सत्य या शब्द कभी नही माना। इसलिए यदि कोई 'आनदमठ' के उपसहार के रूप मे डाक्टर द्वारा सत्यानन्द को दिए गए उपदेश की गहराई मे जाए, तो पता चलेगा कि ब्रिटिश शासन के प्रति समर्पण बिल्कुल अस्थायी था, चाहे वह विवशता के कारण हो या आवश्यकता के कारण, और उसमें अन्तत मुक्ति का आश्वासन निहित है। कुल मिला कर ब्रिटिश शासन को बकिम साध्य तक पहुचने का साधन मात्र मानते है अर्थात् आधुनिक ज्ञान की प्राप्ति और पाश्चात्य नई सभ्यता के प्रभाव को देश के पुनरुज्जीवन का माध्यम मानते है।

रूपक के अन्दर झाककर यदि देखे तो 'आनदमठ' मे विद्रोह का लक्ष्य नव-स्थापित ब्रिटिश शासन का विरोध रहा होगा, न कि लुजपुज नवाब का विरोध, जो अपने तथा कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा किए गए शोषण से अपनी प्रजा की रक्षा करने मे असमर्थ था। पुस्तक की प्रत्येक पक्ति मे लेखक की देशभक्ति की तीव्र भावना और राष्ट्रीय मुक्ति की अदम्य इच्छा के दर्शन होते है। सभवतः यही कारण है कि अन्ततोगत्वा ब्रिटिश राज्य के लाभों को गिनाने के बावजूद वह 'आनदमठ' लिखने के लिए सरकारी अप्रसन्नता के शिकार हो गए। ऐसे समय जब देश मे निराशा और उदासीनता का घोर कुहासा व्याप्त था और स्वतंत्रता का विचार अकल्पनीय था 'आनन्द-मठ' ने अपने पाठको के मन मे देशभक्ति की भावना का सचार किया और राजनीतिक पराभव के उस युग मे उनके हृदय मे एक नई और तीव्र उमंग

उत्पन्न की। 'आनंदमठ' ने, जैसा कि हम आगे देखेंगे, भारत के भावी स्वतन्त्रता संग्राम के लिए पूर्व संकेत प्रस्तुत किया और उसका मार्ग प्रशस्त किया।

यहां एक और बात ध्यान देने योग्य है। पुस्तक के उपसंहार में डाक्टर कहता है कि डकैती और लूटमार से देश की मुक्ति के पवित्र उद्देश्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। इस प्रकार पवित्र साध्य की प्राप्ति के लिए भी वह अपवित्र साधनों का तिरस्कार करता है। "पाप से पवित्र की उपलब्धि नहीं होती", यह कह कर वह नैतिक मूल्यों और राष्ट्र की मुक्ति और राष्ट्र-निर्माण के लिए मानसिक और भौतिक ज्ञान की प्राप्ति पर बल देता है। इस प्रकार राजनीतिक संघर्ष के साधन या राजनीतिज्ञता की सहायता के लिए शक्ति के प्रयोग का बहिष्कार न करते हुए भी बंकिम ने राष्ट्र के बुनियादी ढांचे को मजबूत करने के लिए मानसिक और नैतिक मूल्यों के विकास पर बल दिया है।

'आनंदमठ' के 'सन्तानों' द्वारा स्तुति या सामूहिक संग्राम के आह्वान के लिए गाया जाने वाला 'वन्दे मातरम्' गीत आज राष्ट्र की बहुमूल्य उपलब्धि है।

देशभक्ति की प्रेरणा के क्षणों में जब बंकिम ने 'वन्दे मातरम्' की रचना की, उससे पहले भी बंगला साहित्य में देशभक्ति की भावना जगाने वाले अनेक ओजस्वी गीत लिखे गए थे। पद्मिनी उपाख्यान (1858) शीर्षक अपनी रचना में कवि रंगलाल बंद्योपाध्याय ने ऐसा ही एक गीत लिखा था जो इस प्रकार शुरू होता था, "स्वाधीनता हीनताय के बाचिते चाय रे, के बाचिते चाय" यानी कौन भला गुलामी का जीवन जीना चाहता है? भला कौन अपने पैरों में गुलामी की बेड़ियां पहनना चाहता है? एक और प्रसिद्ध कवि हेमचन्द्र बंद्योपाध्याय ने 1872 में 'भारत संगीत' की रचना की, जिसमें उन्होंने सोते हुए राष्ट्र को जाग उठने का आह्वान किया है। वह इस प्रकार शुरू होता है—

'गा मेरी बांसुरी, गा इन शब्दों को
हर कोई है स्वतन्त्र इस विश्व में
. . . .
भारत अकेला निद्रा मग्न है।'

यह गीत डाल दिया जो बहुत ही उचित था। यह गीत 'सन्तानों' का पवित्र मंत्र बन गया। जिस ढंग से उन्होंने 'आनंदमठ' में इस गीत का उपयोग किया है उससे उनकी कलात्मक सूझ-बूझ का पता चलता है। गीत ऊपर से थोपा हुआ नहीं लगता। वह कथानक की स्वाभाविक तार्किकता का अन्तरंग भाग बन गया है। बंगला और संस्कृत की मिश्रित शैली में लिखे गए इस गीत में इतनी सुन्दर लयबद्धता है, जो श्रोता के हृदय को गहराई तक छू जाती है। इसका गंभीर संगीत हृदय को शांति और प्रेरणा से प्लावित कर देता है।

इस गीत की एक अद्वितीय विशेषता यह है कि इसमें मातृभूमि को माता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। धरती को माता मानने का विचार बहुत पुराना है। इस विचार से प्राचीन काल के भारतीय अपरिचित नहीं थे। प्राचीन ग्रन्थों में उत्पादक और सम्पन्न धरती को सामान्यतः मातृत्व के गुणों से युक्त कहा गया है। ऐसा भी वर्णन आता है कि जननी और जन्मभूमि की गरिमा स्वर्ग से भी ऊंची है। पर सम्भवतः बंकिम को पहली बार इससे भी आगे बढ़ कर मातृभूमि को आधुनिक देशभक्ति से परिपूर्ण माता के रूप में देखने का और उसे ठोस रूप प्रदान करके दुर्गामाता के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त हुआ। बंकिम से पहले सम्भवतः सत्येन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने उपरोक्त गीत में इसी प्रकार की रूपरेखा प्रस्तुत की थी, जिसमें उन्होंने 'भारत सन्तान' की चर्चा की थी। भारत को 'वीरों की जननी' बताते हुए कवि कहता है, "तुम डरते क्यों हो? माता के गौरव को बढ़ाओ।" इस विचार का मूल, हो सकता है कुछ और समसामयिक रचनाओं में भी विद्यमान हो (बी सी पाल ने 'भारत माता' नाम के एक ओपेरा का उल्लेख किया है, जो उन दिनों रंगमंच पर खेला गया था)।* पर यह सब कुछ अस्पष्ट और सामान्य ढंग से व्यक्त किया गया था और इसमें बंकिम द्वारा प्रतिपादित मां के मूर्त दृश्य स्वरूप से उत्पन्न होने वाली स्फूर्ति और प्रेरणा का अभाव था। पौराणिक मातृस्वरूपा देवी का देशभक्ति के आधुनिक गुण के रूप में रूपान्तरण करने का कार्य बंकिम का ही था। इस गीत में आध्यात्मिकता ढूंढना या मातृभूमि में अन्तर्निहित देवत्व की खोज करना, उनके प्रति अन्याय है। बंकिम धुंधली किस्म के धार्मिक तत्त्व मीमांसक नहीं

* माई लाइफ एण्ड टाइम्स

बिल्कुल ही नही थे। उनकी समस्त दर्शन पद्धति से पता चलता है कि वह एक व्यावहारिक आदर्शवादी थे, न कि हवाई उड़ान में तल्लीन तत्त्व-चिन्तक।

दुर्गा-पूजा त्योहार बंगाल का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण त्योहार है, जो चार दिन तक बड़ी सजधज और धूमधड़ाके के साथ मनाया जाता है। बंकिम इससे बहुत प्रभावित थे और काठालपाड़ा में उनके पैतृक घर मे यह त्योहार हर साल निष्ठापूर्वक मनाया जाता था। उसी देवी में उन्होंने उन गुणों को देखा जिन्हें, वे किसी देश की, इस संदर्भ में अपने देश भारत की, सुख और समृद्धि के लिए आवश्यक मानते थे। इसलिए मातृभूमि को मातृदेवी के रूप मे देखने मे उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। इस प्रकार उन्होंने अपनी उपास्य देवी को न केवल एक साक्षात और ठोस बाह्य रूप प्रदान किया, बल्कि उसे धार्मिक पूजा से सम्बद्ध शुद्धता और पवित्रता से भी मंडित किया।

'वन्दे मातरम्' मातृदेवी के उस भावी स्वरूप के प्रति स्तुति है, जिस देदीप्य-मान स्वरूप के दर्शन सत्यानन्द ने 'आनंदमठ' मे महेन्द्र को कराए थे। बंकिम उसको दुर्गा के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिसका पूजन प्रतिवर्ष हजारों भारतीय घरों मे होता है। वह उन सभी गुणों की धारिणी है, जो किसी देश या वहा के लोगों की सुख-समृद्धि के लिए आवश्यक है। उसके दसों हाथो मे शस्त्र हैं और वे दस दिशाओं मे फैले हुए है, जो उसके विस्तार के सूचक हैं। सिंह पर सवार रह कर वह स्वयं असुरों या अनिष्टकारी शक्तियों के प्रतिनिधि राक्षसों का दमन कर रही है। उसकी दोनों पुत्रियां, लक्ष्मी और सरस्वती, क्रमशः धन और विद्या की प्रतीक है और उसके दो पुत्र गणेश और कार्तिकेय सफलता और शक्ति के प्रतीक है। बंकिम अपने गीत के आरम्भ में माता को 'सुजलाम्' और 'सुफलाम्' कहते हैं, अर्थात किसी राज्य या देश के लिए उत्पादन की बहुलता एक प्रमुख आवश्यकता है। उसके बाद उन्होंने माता के 'द्विसप्तकोटिभुजैर्धृ तखर करवाले' रूप को शक्ति और सुरक्षा का प्रतीक माना। उसे 'त्वं हि प्राणाः शरीरे' कहा। वह अपनी संतान के लिए ज्ञान, आचरण, प्रेम और आस्था का स्रोत है और उसकी सन्तान प्रत्येक मन्दिर मे उसी की मूर्ति की स्थापना करती है। स्पष्टतः बंकिम प्रत्येक व्यक्ति का देश के साथ तादात्म्य स्थापित करते है, जिसमें प्रत्येक देशवासी अपना जीवन, शक्ति और संरक्षण तथा शारीरिक और नैतिक गुण 'देश से अर्थात उसकी

जलवायु, पर्यावरण और परम्पराओं से प्राप्त करता है। वस्तुतः मातृदेवी अपने समस्त जनों की स्वाभाविक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करती है। यह गीत बहुत गहरी देशभक्ति की भावना जगाता है, क्योंकि इससे देश और उसके निवासियों में देश की प्रगति के संकल्पित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाता है। यह द्रष्टव्य है कि बंकिम न केवल देश के मानसिक, नैतिक और उत्पादक पक्षों पर, बल्कि उसकी प्रतिरक्षात्मक शक्ति पर, जो राष्ट्र के लिए अनिवार्य है, बल देते हैं। इसलिए यह मान लेना न्यायसंगत होगा कि इस गीत में बंकिम देश को एक भौगोलिक इकाई या भावनात्मक प्रतीक के रूप में ही नहीं देख रहे थे, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र के रूप में देख रहे थे, जिसमें उसकी जनता को अपने सम्पूर्ण मानसिक, नैतिक और शारीरिक गुणों के उपयोग का अवसर मिलता है। दूसरे राजनीतिक चिन्तकों के, जो सामान्यतः राष्ट्र को पुरुषोचित गुणों से सम्पन्न मानते हैं, विपरीत बंकिम देश को मातृदेवी के रूप में सौन्दर्य और उत्पादकता के स्त्रियोचित गुणों से सम्पन्न मानते हैं, पर साथ ही वह साहस और शक्ति के पुरुषोचित गुणों से रहित नहीं है। इस प्रकार के विरोधी गुणों का सम्मिश्रण दुर्गा माता के स्वरूप में सहज ही किया जा सकता था। संसार के गीतों में से बहुत कम ऐसे हैं जो 'वन्दे मातरम्' की-सी विशिष्टता का दावा कर सकते हैं। 'ला मार्सेई' जैसे राष्ट्रगीत केवल प्रेरणा प्रदान करते हैं, पर 'वन्दे मातरम्' प्रेरणा और शक्ति दोनों प्रदान करता है।

फिर भी 'वन्दे मातरम्' कई दृष्टियों से सम्भवतः सबसे विवादास्पद राष्ट्रीय गीत है और इसका भारत के दो राष्ट्रीय गीतों में से एक के रूप में मान्यता मिलने तक का इतिहास बड़ा कटीला रहा है। प्रारम्भ में कई विदेशियों ने इसे गलत समझा और इसके गलत अर्थ लगाए, सम्भवतः इसका कारण राजनीतिक पूर्वग्रह था। कई यूरोपीय लेखकों ने इसे मृत्यु और विनाश की देवी काली को संबोधित बदले की भावना से लिखे गए गीत के रूप में देखा। उनमें से एक ने उसे 'भयंकरी देवी' दुर्गा या काली की स्तुति कहा। यहाँ तक कि 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' ने भी इसे और किसी दृष्टि से न देख कर आध्यात्मीकृत काली के रूप में बंगाल का मूर्त रूप मात्र कहा। ये सब व्याख्याता कितने अज्ञ और पूर्वग्रही थे, यह आसानी से देखा जा सकता है।

'वन्दे मातरम्' एक सीधा-सादा देशभक्तिपूर्ण गीत है, जो दुर्गा माता के, जिसकी पूजा बंगाली बड़े मन से करते है, रूप मे मूर्त मातृभूमि की स्तुति मे लिखा गया है। न यह बदले की भावना से लिखा गया गीत है और न यह कोई रहस्यमय धार्मिक मंत्र है जैसा कि कुछ विदेशियो ने उसकी कल्पना की है। वंकिम मूर्तिपूजक नहीं थे, वस्तुत उनका विश्वास था कि मूर्तिपूजा, पूजा की विधियो में सबसे पिछड़ा हुआ तरीका है। पर साथ ही वह यह भी जानते थे कि केवल सूक्ष्म भावांजलि व्यक्ति की कल्पना शक्ति को जागृत करने के लिए काफी नही है और उसकी कोमल भावनाओं को जागृत करने के लिए उसके साध्य का प्रतीक या मूर्त रूप मे दृश्य होना आवश्यक है। सिर्फ इस गीत में ही नही, 'आनदमठ' मे भी हम देखते है कि मा अर्थात मातृभूमि को पहले, जगद्धात्री अर्थात माता के रूप में जैसी वह पहले थी, फिर काली या माता के रूप मे जैसी वह अब है, और अन्ततः दुर्गा या माता के रूप में जैसी वह भविष्य मे होगी, प्रस्तुत किया है। यह सब और कुछ नही, मातृभूमि की प्राचीन गौरवमय अवस्था, उसके वर्तमान पतन और 'सन्तानो' द्वारा गहरी आत्मनिष्ठा के माध्यम से उसकी मुक्ति के बाद उसके गौरवमय भविष्य की रूपकात्मक अभिव्यक्ति है। बकिम निश्चय ही यह अनुभव करते होंगे कि भारतीय मन को और कोई भी शक्ति उतना उद्वेलित नही कर सकती, जितना धर्म। सम्भवत: इसीलिए उन्होंने आधुनिक देशभक्ति की भावना को प्रस्तुत करने के लिए धार्मिक प्रतीकों को चुना।

लगता है कि वंकिम को 'वन्दे मातरम्' के भविष्य के संबंध में भविष्य-द्रष्टासुलभ आतरिक ज्ञान पहले ही था। यह कहा जाता है कि वह यह जानते थे कि अगले बीस-तीस वर्षों के दौरान लोग इस गीत के पीछे पागल हो उठेंगे। ठीक वैसा ही हुआ भी। इस गीत के प्रकाशन के तीस वर्ष बाद से पहले ही 1905 मे वंग-भंग आंदोलन के दौरान लोग इस गीत के पीछे पागल हो उठे। बीच की अवधि मे इस गीत की क्या स्थिति रही, यह जानना बड़ा ही दिलचस्प है। वंकिम के जीवनकाल में जो राजनीतिक आंदोलन हुए, उनमे 'वन्दे मातरम्' के गाए जाने के कोई प्रमाण नहीं मिलते। इस प्रकार यद्यपि इस गीत को तुरंत राजनीतिक मान्यता नहीं मिली, पर विभिन्न क्षेत्रों में इसकी प्रशंसा जरूर हुई। यह इस बात से स्पष्ट है कि 1885 मे ठाकुर परिवार की पारिवारिक पत्रिका 'बालक' के संगीत स्तम्भ

में उसे स्थान दिया गया और 1886 की कलकत्ता कांग्रेस, जहां रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक अन्य गीत गाया था, की स्मृति में हेमचन्द्र बंद्योपाध्याय द्वारा रचित कविता में इस गीत की प्रतिध्वनि है।* इस गीत को पहली बार 1896 में कलकत्ता में बारहवें कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गाया था।** आंखों देखे लेखे-जोखे के अनुसार कवि की मीठी पर शक्तिशाली आवाज पूरे पण्डाल में गूंज उठी, जिसे सुनकर लोगों के हृदय द्रवित हो गए और वे देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत हो गए।

उस समय तक सीमित क्षेत्रों में लोकप्रिय 'वन्दे मातरम्' बंग-भंग आंदोलन के दौरान खूब लोकप्रिय हुआ और उसकी लहर सारे भारत में दौड़ गई। देशभक्ति के आंदोलन के उस तूफानी दौर में यह गीत पीड़ित बंगाल पर अन्याय के विरुद्ध उद्घोष और उसकी संतप्त आत्मा की संक्षिप्त अभिव्यक्ति बन गया। कलकत्ता के टाउन हाल में 7 अगस्त, 1905 को आयोजित एक विशाल सभा में 'वन्दे मातरम्' का गायन हुआ। उसी अवसर पर विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार संबंधी प्रसिद्ध प्रस्ताव पारित हुआ और स्वदेशी आंदोलन का श्रीगणेश हुआ। 16 अक्तूबर को जब बंगाल का विभाजन लागू हुआ, उस दिन उसके विरोध के रूप में बंगाल में किसी भी घर में चूल्हा नहीं जला और स्वयंसेवक छोटे-छोटे दल बनाकर सारे प्रांत में इस जोशीले गीत को गाते फिरे। प्रांत के सभी भागों के लोग हजारों की संख्या में निकटवर्ती नदियों में शुद्धि स्नान के लिए गए और 'वन्दे मातरम्' के नारों की गूंज के बीच उन्होंने एक दूसरे की कलाई पर एकता और भ्रातृत्व के धागे बांधे। सरकार को विद्रोह की गंध आई और उसने इस गीत के सार्वजनिक गायन पर प्रतिबंध लगा दिया। लेकिन बहुत से छात्रों ने जो विभाजन की गंभीर गलती को सुधारने के लिए कटिबद्ध थे, हंसते-हंसते इस प्रतिबंध का उल्लंघन किया, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें स्कूलों और कालिजों से निकाल दिया गया। 'वन्दे मातरम्' के प्रति अंग्रेजों के पूर्वग्रहात्मक विद्वेष का वर्णन करते हुए श्री ए. सी. मजूमदार ने लिखा है, "जिस प्रकार लाल कपड़े को देख कर सांड़ विक्षुब्ध हो उठता है, उसी प्रकार 'वन्दे मातरम्' की सहज

---

* मंत्रेर जन्म, बी. दत्त, आनन्द बाजार पत्रिका, रविवार परिशिष्ट, आश्विन 12, 1376 (बं. सं.)

** मुक्तिर संधाने भारत, जे. सी. बागल

अभिव्यक्ति कुछ सरकारी अधिकारियो को लगभग असह्य हो उठी। कुछेक ने इसका अर्थ लगाया 'बन्दर को घेर लो और उसे मारो।' दूसरों को यह संदेह था कि यह बल प्रयोग के लिए गुप्त सकेत मात्र है। पर सत्य यह है कि एक दशक से भी अधिक पहले, एक उपन्यासकार द्वारा यह गीत लिखा गया था और इस सीधे-सादे गीत का अर्थ केवल इतना ही था, वन्दे मातरम् यानी "हे मातृभूमि ! मैं तुम्हें नमन करता हूं।"*

पूर्वी बगाल और असम के नवगठित प्रात के एक नगर 'बरिसाल' में, जहा अप्रैल, 1906 में बग-भंग विरोधी आंदोलन पूरे जोर पर था और बंगाल प्रातीय सम्मेलन होना था, इस गीत पर कड़ा प्रतिबंध लगा दिया गया। वहाँ पुलिस ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और अन्यों के नेतृत्व में निकाले जा रहे एक जुलूस पर बिना किसी कारण निर्दयतापूर्वक लाठीचार्ज किया। अभ्यस्त सत्याग्रहियों की तरह जुलूस मे शामिल व्यक्तियों ने इस अत्याचार को चुपचाप सहन किया, पर उनके होंठो पर बराबर 'वन्दे मातरम्' था। मातृभूमि के लिए खून बहाने के लिए केवल 'वन्दे मातरम्' ही प्रेरणा और सान्त्वना का स्रोत था। बरिसाल प्रदर्शन में भाग लेने वाले एक युवक चित्तरंजन गुह ठाकुराता ने, जो पहले पीटे जाने से बचा और फिर पुलिस द्वारा डुबोकर मार दिए जाने से बचा, इस अवसर का यह संस्मरण प्रस्तुत किया है—"जब मैंने पहली बार 'वन्दे मातरम्' का नारा लगाया तो मैं सोच रहा था कि कोई गुरखा मुझे गोली से उड़ा देगा पर उसके बजाय तूफान की तरह मेरे शरीर पर लाठियां बरसने लगीं।...ज्यों ही मैंने 'वन्दे मातरम्' का नारा लगाया, मुझे ऐसा लगा कि मेरी धमनियों में महान शक्ति का संचार हो रहा है। लाठियों की जो वर्षा मेरे शरीर पर लगी थी, वह मुझे मातृभूमि का वरदान महसूस हो रही थी।"** बाद ही में गुह ठाकुराता ने यह भी लिखा है कि इस गीत द्वारा दी गई प्रेरणा ने उनके मन मे विशुद्ध अहिंसा पैदा की जिसमें न द्वेष था न क्रोध। इस दृष्टि से बंग-भंग आंदोलन बड़े पैमाने पर किए गए अहिंसक सत्याग्रह का पहला प्रयोग था और इससे देश की स्वतन्त्रता के लिए बाद के आंदोलनों का रूप निर्धारित हुआ।

* इण्डियन नेशनल इवॅल्यूशन

** अमृत बाजार पत्रिका, 27 अगस्त, 1937

बंगाल के विभाजन के समय जो स्वदेशी आंदोलन हुआ, वह अभूतपूर्व उथल-पुथल का सूचक था और उससे अभूतपूर्व जोश की उत्पत्ति हुई। एक 'वन्दे मातरम्' स्वयंसेवक दल का गठन हुआ, जो इस गीत को गाता हुआ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता था और स्वदेशी की भावना का प्रसार करते हुए, लोगों से विदेशी माल का बहिष्कार करने का अनुरोध करता था। श्री बी सी. पाल ने, जो इस प्रेरक वाक्य को लेकर चले 'भारत भारतीयों के लिए,' 'वन्दे मातरम्' नाम से एक समाचारपत्र का प्रकाशन आरंभ किया। श्री अरविन्द भी इसमें सम्मिलित हो गए। यह आन्दोलन नकारात्मक नहीं था और इसका उद्देश्य विभाजन के स्थापित सत्य को विस्थापित करना मात्र नहीं था, बल्कि यह आन्दोलन सकारात्मक था। इसने रचनात्मक देशभक्ति, आत्मसहायता, विदेशी माल के बहिष्कार, स्वदेशी, उद्योगीकरण, राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रीय संस्कृति और मूल्यों के महत्त्व पर बल दिया। दूसरे शब्दों में इसने सारे बंगाल में सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और औद्योगिक पुनर्जागरण लाने का कार्य किया।

बंगाल में इन दिनों असंख्य गीतों के कमल खिल रहे थे और संगीत फल-फूल रहा था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस दौरान रचित अपने कुछ महत्त्वपूर्ण गीतों में देशभक्ति की पवित्र भावना को अभिव्यक्त किया। इनमें से अधिकांश में मातृभूमि की माता के रूप में कल्पना की गई। रैम्जे मैकडोनल्ड के शब्दों में, "बंगाल, भारत का निर्माण गीतों और पूजा से कर रहा था और उसे महारानियों के वस्त्रों से संवार रहा था।"* पिछली शताब्दी में बोया गया राष्ट्रवाद का बीज अंकुरित हो रहा था, बंगाल मातृभूमि के प्रति प्रेम को धर्म में रूपांतरित कर रहा था और इस महत्त्वपूर्ण जोश की पृष्ठभूमि में बंकिम के विचारों और सर्वोपरि उनके गीत 'वन्दे मातरम्' का प्रभाव था। इस गीत में सन्निहित मातृभूमि का विचार अब आग पकड़ रहा था।

स्वदेशी आंदोलन की लहर बंगाल तक सीमित न रह कर देश भर में फैल गई। इसका प्रभाव संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत, पंजाब, बम्बई और अन्य स्थानों पर महसूस किया गया और वहां यह उन क्षेत्रों में उद्भूत राष्ट्रवाद की धारा में मिल कर एकाकार हो गई। बंग-भंग आंदोलन मूल रूप में

* दी अवेकनिंग आफ इण्डिया

प्रांतीय था, लेकिन उसकी विषयवस्तु राष्ट्रीय थी। उसके माध्यम से बंगाल मातृभूमि अर्थात भारत का आदर्श रूप प्रस्तुत कर रहा था। इस प्रकार बंगाल की राष्ट्रीयता अखिल भारतीय राष्ट्रीयता के साथ जुड़ गई।

पहले-पहल 'वन्दे मातरम्' गीत और स्वदेशी की भावना का देश में उत्पन्न नवोत्साह, नव राष्ट्रवाद या तथाकथित गरमपंथ, जिसका विकास सारे देश में हो रहा था और जिसका नेतृत्व लाल, बाल, पाल और श्री अरविन्द घोष कर रहे थे, के साथ अच्छा तालमेल बैठा। वयोवृद्ध राजनेताओं के नरम पथ का इन दिनों जिस प्रकार जबर्दस्त विरोध हुआ, वह सभी को ज्ञात है और उसके ब्यौरे में जाना आवश्यक नहीं है। राष्ट्रीयता की दो विचारधाराओं—नई और पुरानी—के बीच अलगाव के प्रथम चिन्ह 1906 की कलकत्ता कांग्रेस में स्पष्ट दिखाई देने लगे थे। कांग्रेस का यह अधिवेशन कई प्रकार से अविस्मरणीय था। उस मौके पर कांग्रेस के गरम और नरम दल के अलगाव को उस समय बड़ी होशियारी से टाल दिया गया, पर अगले वर्ष सूरत में दोनों का विच्छेद होकर ही रहा।

नई राष्ट्रीयता बंकिम की भावना से प्रेरित थी और 'वन्दे मातरम्' का नारा न केवल बंगाल में, बल्कि सारे भारत में, एक नये आंदोलन का प्रतीक बन गया।* नया नारा था 'वन्दे मातरम्'। पुराना नारा था—'वर्तानिया जिंदाबाद! सम्राट अमर रहे!'** श्री अरविन्द और बी सी. पाल ने 'वन्दे मातरम्' को पवित्र मन्त्र कह कर उसे रहस्यवादी, भय और भक्ति से जोड़ दिया और पाल ने कहा कि मंत्र सिर्फ ध्वनि नहीं होता, बल्कि शक्ति होता है।

कलकत्ता में 1906 में शिवाजी महोत्सव का मनाया जाना एक महत्त्वपूर्ण अवसर था, जिसमें बंगाल और महाराष्ट्र के विचारों का शुभ-संगम हुआ। उस अवसर पर जब जोर-जोर से 'वन्दे मातरम्' के नारे लगाए गए, तब तिलक ने निम्न शब्द कहे: "आज प्रातःकाल आपने मेरा और मेरे मित्र खापर्डे का 'वन्दे मातरम्' के जिस नारे से इस प्रकार स्वागत किया है, उससे हम अपरिचित नहीं हैं। उसे मराठों ने भी अपना रखा है और 'वन्दे

* राइज एण्ड ग्रोथ आफ मिलिटेन्ट इण्डियन नेशनलिज्म : बुच

** वही

मातरम्' शब्द रायगढ में महान शिवाजी के मन्दिर पर खुदा हुआ है।"* लोकमान्य तिलक ने, जिन्होंने बंगाल के स्वदेशी आंदोलन को देश के सुदूर भागों तक फैलाने के लिए भरसक प्रयत्न किया, एक और संदर्भ में कहा: 'मैं भारत को अपनी मातृभूमि और अपनी देवी मानता हूं।"** मातृभूमि को देवी के रूप में देखना अब तेजी से फैल रहा था।

मूल रूप में बंगाल पर लिखा गया 'वन्दे मातरम्' अब देश भर में नए और पुराने दोनों प्रकार के राष्ट्रवादियों द्वारा अपनाया जा रहा था। यदि नए राष्ट्रवादियों के लिए यह देशभक्ति का जोशीला नारा था, तो कुछ ही अरसे बाद पुराने राष्ट्रवादियों ने इसे अत्यन्त प्रेरक मूलमंत्र के रूप में अपनाया। 1896 में कलकत्ता में कांग्रेस अधिवेशन में बहुत पहले ही गाया गया यह गीत उसके अखिल भारतीय मंच पर भी खूब गाया जाने लगा। 1905 और 1906 के दो कांग्रेस अधिवेशन इसलिए काफी महत्त्वपूर्ण थे कि उनमें बंगाल के विभाजन के विरोध में कड़े प्रस्ताव पास किए गए। 1906 में कलकत्ता अधिवेशन में न केवल बंगभंग विरोधी प्रस्ताव पास किया गया, बल्कि विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी का समर्थन किया गया और इस प्रकार बंगाल की लड़ाई को सारे देश ने अपनी लड़ाई बना लिया।*** बंगाल की लड़ाई को भारत की लड़ाई मान लिया गया। 1905 के कांग्रेस अधिवेशन में जब गोखले ने बड़े भावुकतापूर्ण शब्दों में बंगाल के कष्टों की चर्चा की, तो सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 'वन्दे मातरम्' के नारों के बीच बंग-भंग के विरुद्ध प्रस्ताव रखा और बंगाल में 'वन्दे मातरम्' गाने वालों पर होने वाले अत्याचारों का विस्तृत लेखा-जोखा प्रस्तुत किया। 1906 के अधिवेशन में, जिसमें देश के विभिन्न भागों से बहुत बड़ी संख्या में प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे, 'वन्दे मातरम्' लड़कियों की एक मंडली ने गाया, जिसे समस्त श्रोता मौन खड़े होकर सुन रहे थे। उस समय स्वागत समिति के अध्यक्ष रासबिहारी घोष ने यह बताया कि बंगाल में 'वन्दे मातरम्' का नारा लगाने पर प्रतिबन्ध है और उसके लिए कड़ा दण्ड दिया जाता है।**** 'वन्दे

* हिन्दुस्तान स्टेण्डर्ड, 31 अक्तूबर, 1937

** लोकमान्य तिलक : ताम्हणकर

*** हिस्ट्री आफ द कांग्रेस - पट्टाभि सीतारमैया

**** हाउ इण्डिया फाट फार फ्रीडम : एनी बेसेन्ट

मातरम्' अब एक स्थानीय नारा ही नहीं रह गया था, बल्कि राष्ट्रीय नारा बन गया था। कुछ समय बाद 'वन्दे मातरम्' में निहित मातृभूमि से समस्त भारत का बोध होने लगा।* इस प्रकार 'वन्दे मातरम्' ने बंकिम चन्द्र को राष्ट्रीय स्तर पर ला खड़ा किया और राष्ट्रीय इतिहास में उनके नाम को अमर बना दिया। किस प्रकार एक प्रान्तीय भाषा में लिखा गया एक प्रान्तीय गीत राष्ट्रीय नारा बना और उसने अनेक विभिन्नताओं वाले देश में एकता स्थापित करने वाली शक्ति के रूप में कार्य किया, यह इस बात का अद्वितीय उदाहरण है।

उसके बाद कांग्रेस के एक के बाद एक अधिवेशन में, मातृभूमि को संबोधित करते हुए इस गीत को निष्ठापूर्वक एक पवित्र गान के रूप में गाया गया। कांग्रेस अधिवेशनों मे ही नही, हमारे सभी राष्ट्रीय समारहों के आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में 'वन्दे मातरम्' गाया जाने लगा। यह जबरदस्ती थोपा नही गया, बल्कि इसने अपना स्थान स्वयं बना लिया, मानो मातृभूमि के प्रति यह देश की स्वाभाविक प्रतिक्रिया हो। इस गीत मे ऐसे सार्वभौमिक तत्त्व हैं, जो इसे स्थानीय स्तर से राष्ट्रीय स्तर पर ले गए। इसमें संस्कृत की शब्दावली अधिक होने से देशभर में इसे सहज स्वीकृति मिली। इसके अतिरिक्त इसमे व्यक्त भावनाओं में हृदय को छूने की महान क्षमता थी। गांधीजी ने कहा : 'वन्दे मातरम' महान विचारों से युक्त तो है ही, साथ ही यह एक राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षा 'भारत अपनी संपूर्ण ऊंचाइयों तक पहुचे', को भी व्यक्त करता है।** विदेशी प्रभुत्व से स्वयं को मुक्त कराने के लिए संघर्षरत किसी राष्ट्र के लिए इससे बड़ी महत्त्वाकांक्षा या लक्ष्य और क्या हो सकता है। इस प्रकार यह गीत स्वतन्त्रता मिलने से पहले ही स्वयमेव देश का गैर-सरकारी राष्ट्रगीत बन गया था। हमारे हजारों स्वतन्त्रता सेनानियों, पुरुषों, स्त्रियों, युवकों और किशोरो, सभी ने 'वन्दे मातरम्' का जोशीला नारा लगाते हुए लाठियां और गोलियां खाईं और निर्मम अत्याचारों का मुकाबला किया। 'वन्दे मातरम्' देश के स्वतन्त्रता संग्राम का अविच्छिन्न अंग बन गया।

---

* फ्रीडम मूवमेन्ट इन बंगाल : निर्मल सिन्हा

** द नेशनल क्राइज, यंग इण्डिया, 8 सितम्बर, 1920

प्रारम्भ में कुछ स्वार्थी विदेशियों ने 'वन्दे मातरम्' की व्याख्या के बारे में एक वाद-विवाद खड़ा किया। अन्य अनेक वाद-विवाद खड़े हुए, हालांकि वे भिन्न संदर्भों में थे। वंग-भंग के दिनों से 'वन्दे मातरम्' की लोकप्रियता तेजी से बढ़ रही थी और जैसे-जैसे राष्ट्रीय संग्राम अधिकाधिक गंभीर रूप धारण करता गया, उस महान संग्राम के प्रत्येक चरण में 'वन्दे मातरम्' प्रेरणा का एक अक्षय स्रोत बना रहा। उस अवधि में 'वन्दे मातरम्' के बारे में किसी ने कोई प्रश्न नहीं उठाया, मुसलमानों ने तो बिल्कुल ही नहीं। सत्य तो यह है कि स्वदेशी आंदोलन में हिन्दुओं और देशभक्त मुसलमानों दोनों ने एक साथ 'वन्दे मातरम्' का नारा लगाया और भयंकर अत्याचार सहे। पर 1930 के दशक में, जब मुस्लिम लीग का बोलबाला हुआ, तो मुसलमानों के एक वर्ग ने 'वन्दे मातरम्' पर आपत्ति उठाई और कहा कि यह एक मूर्तिपूजा का गीत है और इसलिए इस्लाम की हिदायतों के विरुद्ध है। 'वन्दे मातरम्' और उसके लेखक की खूब भर्त्सना की गई, 'आनन्दमठ' और 'राजसिंह' पर प्रतिबन्ध लगाने की मांग की गई और बंकिम पर मुस्लिम विरोधी होने का आरोप लगाया गया। पर क्या बंकिम सचमुच मुस्लिम विरोधी थे, इस पर अगले अध्याय में विचार किया जाएगा। जहां तक 'वन्दे मातरम्' का सम्बन्ध है, इस पर लगाए गए मूर्तिपूजा से सम्बद्ध गीत होने के आरोप का कुछ विचारशील लोगों ने कड़ा विरोध किया। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए डा. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा, "इसमें मूर्तिपूजा के लिए आह्वान नहीं किया गया है और 'दुर्गा' से यहां अभिप्राय: किसी मूर्ति से नहीं बल्कि यह मातृभूमि का ही दूसरा नाम है।"* जवाहरलाल नेहरू ने कहा, "मेरे विचार में यह संपूर्ण गीत और इसके संपूर्ण शब्द किसी भी दृष्टि से निर्दोष है और किसी को भी इस पर आपत्ति नहीं करनी चाहिए।"** 'माडर्न रिव्यू' के सम्पादक, जो एक जाने-माने ब्राह्म थे और मूर्तिपूजा के प्रशंसक नहीं थे, ने स्वयं भी 'वन्दे मातरम्' की बड़े प्रशंसनीय ढंग से पैरवी की।*** उन्होंने कहा कि इसमें इस्लाम के विरुद्ध कोई द्वेष भावना नहीं है और इसमें वर्णित सात करोड़ कण्ठों से अभिप्राय वस्तुतः उस समय के बंगाल के, जिसमें

* अमृत बाजार पत्रिका, 27 सितम्बर, 1937

** माडर्न रिव्यू : अक्तूबर, 1937

*** माडर्न रिव्यू : नोट्स, नवम्बर, 1937

बिहार और उड़ीसा सम्मिलित थे, समस्त हिन्दुओं और मुसलमानों की पूरी जनसंख्या से है। 'आनन्दमठ' से, जिसमें इसे बाद में सम्मिलित कर लिया गया था, अलग करके यदि देखें तो 'वन्दे मातरम्' बिलकुल निर्दोष है। पर यदि 'आनन्दमठ' की कथा के संदर्भ में भी इस पर विचार करें, तो भी इस पर धार्मिक या साम्प्रदायिक आधार पर कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। कहानी मे वास्तविक सघर्ष अंग्रेजों के विरुद्ध है और मुस्लिम शासकों के विरुद्ध सघर्ष केवल दिखावा है। इसके अतिरिक्त पुस्तक के अंतिम भाग में डाक्टर मूर्तिपूजा का समर्थन करने के बजाय उसका तिरस्कार करता है। वह सत्यानंद से कहता है कि 33 करोड़ देवी-देवताओं की पूजा शाश्वत धर्म नही है।

प्रसन्नता की बात यह थी कि सभी मुसलमानो ने इस विचार का समर्थन नहीं किया कि 'वन्दे मातरम्' से मूर्ति-पूजा की गध आती है और इसलिए इस्लाम की दृष्टि से आपत्तिजनक है। एक विख्यात लेखक और बंगाल के कांग्रेसी नेता श्री रेजा-उल-करीम ने इस आरोप का जबर्दस्त खण्डन किया कि बंकिम मुसलमानों से घृणा करते थे और 'वन्दे मातरम्' एक मूर्तिपूजा-गंधी गीत था।* उनके विचार में 'वन्दे मातरम्' ईश्वर की पूजा या इबादत का, जैसा कि उसे अरबी भाषा में कहते हैं, नही मातृभूमि की पूजा का गीत है। उनके विचार में इस्लाम मे मातृभूमि की कल्पना माता के रूप मे करने पर कोई प्रतिबन्ध नही है जैसा कि कुछ अरबी और फारसी के कवियों ने भी किया है। मौलाना सैयद फजल-उर-रहमान ने बिहारी मुसलमानो को कहा कि इस गीत में 'बुतपरस्ती' (मूर्तिपूजा) की गंध नहीं आती, बल्कि यह 'वतन (मातृभूमि) परस्ती' की अभिव्यक्ति है।**

इस प्रकार कुछ समय तक तुमुल वाद-विवाद चलता रहा। अन्ततः अक्तूबर, 1937 मे कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने इस वाद-विवाद को समाप्त करने के लिए यह सिफारिश की कि 'वन्दे मातरम्' गीत के पहले दो पद ही गाए जाए। इस प्रकार शेष गीत से पहले दो पदो को अलग करके कार्यकारिणी समिति ने इस समस्या को सुलझा लेने का प्रयत्न किया। इस नए रूप में, इसमे कोई भी व्यक्ति मूर्तिपूजा संबंधी कोई अर्थ नहीं ढूंढ

* बंकिमचन्द्र ओ मुसलमान समाज

** अमृतबाजार पत्रिका, 9 अक्तूबर, 1937

सकता था। रोचक बात यह है कि कवीन्द्र रवीन्द्र ने 26 अतूक्बर, 1937 को नेहरूजी को एक पत्र लिख कर गीत के पहले दो पद गाने की सिफारिश की थी।* कार्यकारिणी समिति ने अपने प्रस्ताव में संक्षेप में यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार 'वन्दे मातरम्' हमारे स्वतन्त्रता संग्राम से घनिष्ठ रूप से जुड़ गया है। सन 1906 के बरिसाल सम्मेलन के दिनों में पहली बार 'वन्दे मातरम्' का गान करते हुए मातृभूमि के लिए खून बहा था। कार्यकारिणी समिति ने यह अनुभव किया कि उसके बाद देश भर में कष्टों और बलिदानों के असंख्य ऐसे उदाहरण हैं जिनका संबंध 'वन्दे मातरम्' से है। 'वन्दे मातरम्' गाते हुए पुरुषों और महिलाओं ने मौत का मुकाबला करने में भी कभी संकोच नहीं किया। समिति ने कहा, यह गीत और इसके शब्द हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का जीवन्त और अविच्छिन्न भाग बन गए हैं।** समिति के निर्णय के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा, "अधिकृत तौर पर कहें तो 'वन्दे मातरम्' गीत अब हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का पहले किसी भी समय से अधिक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है।"† यह गीत धीरे-धीरे अपने आप देश का अनधिकृत राष्ट्र-गीत बन गया था। उसे इस प्रकार कांग्रेस से अधिकृत मान्यता मिली, पर कुछ वर्गों में गीत के शेष भाग से पहले दो पदों को अलग कर देने के कारण काफी असंतोष दिखाई पड़ा और कुछ समय तक यह भावना बनी रही कि वह खंडित 'वन्दे मातरम्' था, लेकिन सम्भवतः कार्यकारिणी समिति ने यह अनुभव कर लिया था कि गीत के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों से बचने का केवल यही उपाय था। पहले दो पदों को, जिनमें केवल मातृभूमि के सौंदर्य का वर्णन है, चुनने में समिति का उद्देश्य यह था कि उनसे किसी वर्ग या समुदाय की भावनाओं को ठेस न पहुंचे।

जब भारत के स्वतन्त्र होने के बाद सरकारी तौर पर राष्ट्रीय गीत के बारे में निर्णय होना था, तब फिर एक बार 'वन्दे मातरम्' पर विवाद उठ खड़ा हुआ और संविधान सभा के सामने समस्या उत्पन्न हो गई। उस समय तक एक और बहुत अद्वितीय गीत की रचना हो गई थी, वह था रवीन्द्रनाथ

* रवीन्द्र जीवनी : पी. के. मुखर्जी

** माडर्न रिव्यू, नवम्बर, 1937

† अमृत बाजार पत्रिका, 27 अक्तूबर, 1937

ठाकुर का 'जन-गण-मन'। यह गीत पहली बार 1911 में कलकत्ता कांग्रेस मे गाया गया था। यद्यपि इससे पहले उसी समय 'वन्दे मातरम्' का गान भी हुआ था। 1917 मे कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन मे, जिसका उद्घाटन 'वन्दे मातरम्' गान के बाद हुआ था, जन-गण-मन गाया गया। उसके बाद रवीन्द्रनाथ का गीत बहुत लोकप्रिय होने लगा और बहुत से विचारशील व्यक्तियो ने यह महसूस किया कि इसे भारत के राष्ट्रगीत के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। जन-गण-मन के सबध मे एक भ्रांत धारणा थी कि इसकी रचना 'सम्राट् जार्ज पचम' की स्तुति मे की गई है। इसका निराकरण शीघ्र ही हो गया। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की 'आजाद हिन्द फौज' ने जन-गण-मन को राष्ट्र-गीत के रूप मे अपना लिया और इससे स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार द्वारा राष्ट्रगीत के रूप मे अपनाए जाने को काफी बल मिला। पर एक ऐसा वर्ग भी था जो बंकिम के गीत को राष्ट्रगीत के रूप मे मान्यता देने के हक मे था, विशेषकर इसलिए कि इसका राष्ट्रीय संग्राम के उतार-चढावों मे दीर्घकालीन सबंध रहा था। उदाहरण के लिए, कुछेक को छोड कर शेष प्रांतीय कांग्रेस समितिया 'वन्दे मातरम्' के हक मे थीं।*

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद भारत सरकार ने संयुक्त राष्ट्र सघ मे देश के प्रतिनिधिमंडल की माग पर जन-गण-मन को अस्थायी तौर पर राष्ट्र-गीत घोषित कर दिया। अगस्त, 1948 मे नेहरूजी ने कहा, "यह बडे दुर्भाग्य की बात है कि 'वन्दे मातरम्' और 'जन-गण-मन' के बीच विवाद खडा हो गया है। 'वन्दे मातरम्' स्पष्टत और निर्विवाद रूप से भारत का प्रथम राष्ट्रगीत है, जिसकी अपनी ऐतिहासिक परम्परा है, यह हमारे स्वतन्त्रता सग्राम से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहा है। उसका यह स्थान बना रहेगा और कोई अन्य गीत उसे इससे हटा नही सकता।** इसलिए 'वन्दे मातरम्' की प्राथमिकता के सबंध मे कोई विवाद नही था। पर 'जन-गण-मन' संगीत रचना की दृष्टि से अधिक उपयुक्त था और इसलिए कुछ क्षेत्रो मे उसे प्राथमिकता दी जा रही थी।

संविधान सभा की संचालन समिति ने जनवरी, 1950 मे 'जन-गण-मन' को राष्ट्रगीत घोषित किया, पर 'वन्दे मातरम्' के पक्ष मे प्रबल भावात्मक

* माडर्न रिव्यू, फरवरी, 1950

** अवर नेशनल सांग्स, प्रकाशन विभाग

लगाव को दृष्टि मे रखते हुए उसे 'समान सम्मानित स्थान' दिया। कांग्रेस विधान सभा दल ने समिति के निर्णय में संशोधन किया और 'सम्मानित स्थान' के साथ 'समान दर्जा' जोड़ दिया। संविधान सभा द्वारा प्रस्ताव पारित करने के बजाय राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसाद ने स्वयं राष्ट्रगान के संबंध मे घोषणा की और कहा, 'जन-गण-मन' के नाम से प्रसिद्ध गीत, शब्द और संगीत सहित भारत का राष्ट्रगीत है। आवश्यकता पड़ने पर भारत सरकार के आदेश से इसके शब्दों मे अपेक्षित परिवर्तन किया जा सकता है और 'वन्दे मातरम्' गीत, जिसने भारत के स्वतन्त्रता संग्राम मे ऐतिहासिक भूमिका अदा की है, 'जन-गण-मन' के साथ समान रूप से सम्मानित होगा और इसका उसके समान ही दर्जा होगा। मैं आशा करता हूं कि सदस्य इससे संतुष्ट होंगे।" *

---

* कान्स्टीट्यूएन्ट असेम्बली प्रोसीडिंग्स, जनवरी 24, 1950

10. नैतिक आदर्श

इस अवधि के दो अन्य उपन्यास थे—'देवी चौधरानी' और 'सीताराम ।' ये दोनो ही सोद्देश्य उपन्यास थे । इनमें से पहला उस समय लिखा गया था जब बंकिम हैस्टी विवाद मे संलग्न थे और हिन्दू धर्म और दर्शन की गहराइयो मे विचरण कर रहे थे । इन दोनो ही उपन्यासो पर लेखक की दार्शनिक मन स्थिति की छाप स्पष्ट है । साथ ही इनमें उनकी ऐसी न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की महत्वाकाक्षा निहित है, जिसमे शिष्ट का पालन और दुष्ट का दमन होता है ।

'देवी चौधरानी' की कहानी सक्षेप मे इस प्रकार है । एक गरीब विधवा की लड़की प्रफुल्ल के अनुपम सौन्दर्य से प्रभावित होकर एक सम्पन्न जमीदार 'हरवल्लभ' अपने इकलौते लड़के 'ब्रजेश्वर' का विवाह उससे कर देता है । विवाह सकुशल सम्पन्न हो जाता है, पर बाद में जब हरवल्लभ को प्रफुल्ल की मा पर कुछ बदमाशो द्वारा झूठ-मूठ लगाए गए सामाजिक कलक का पता चलता है, तो वह प्रफुल्ल को अपनी पुत्रवधू मानने से इन्कार कर देता है । इस प्रकार प्रफुल्ल और उसकी मां को बडी गरीबी का सामना करना पडता है । बाप का आज्ञाकारी पुत्र ब्रजेश्वर यद्यपि प्रफुल्ल को अपनी तीनो पत्नियो में सब से अधिक प्यार करता है, पर उसे वापस बुलाने के लिए तैयार नही होता । मा की मृत्यु हो जाने के बाद प्रफुल्ल असहाय हो जाती है । उस समय एक बदमाश उसका अपहरण करके ले जाता है । पर वह उसके चंगुल से बच निकलती है और गहरे निर्जन वन मे एक जीर्ण-शीर्ण विशाल भवन मे पहुँच जाती है, जो अन्तिम हिन्दू राजाओ मे से किसी का भवन रहा होगा । वहा उसकी भेंट मृत्यु शैया पर पडे एक वृद्ध से होती है । वृद्ध उसे विपुल मात्रा मे दबा हुआ खजाना सौप देता है, जिसका उसे पता था । उसके तुरन्त बाद वृद्ध की मृत्यु हो जाती है और वह उस विशाल खजाने की अकेली मालकिन बन जाती है ।

उसके बाद उस निराश्रिता स्त्री के जीवन मे एक आश्चर्यजनक परिवर्तन आता है । अचानक उसकी भेंट डाकुओं के एक प्रसिद्ध सरदार भवानी पाठक से हो जाती है, जो अपने हजारो सशस्त्र साथियो के साथ उस विशाल जंगली

इलाके पर शासन करता था। पाठक कोई साधारण डाकू नहीं है, बल्कि राबिन-हुड की तरह का डाकू है। मुस्लिम शासन के पतन और ब्रिटिश शासन के आरंभ की इस धुंधली संधिवेला में समस्त बंगाल में अव्यवस्था और अराजकता का साम्राज्य था। कमजोरों और गरीबों पर अत्याचार हो रहे थे और वे अंतहीन दुख और पीड़ा भोग रहे थे। पाठक ने कमजोरों की रक्षा और अत्याचारियों को दण्ड देने का संकल्प कर रखा था। वह डकैती अपने सुख के लिए नहीं, बल्कि गरीबों और पिछड़े हुए लोगों की सहायता के लिए करता था।

उसके शक्तिशाली व्यक्तित्व और जीवन के पवित्र ध्येय से प्रभावित होकर प्रफुल्ल उससे पांच साल का प्रशिक्षण लेने के लिए तैयार हो जाती है ताकि वह अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर सके। पाठक उसे केवल शिक्षा और सामान्य ज्ञान का प्रशिक्षण ही नहीं देता, बल्कि उससे कड़े शारीरिक और मानसिक अनुशासन का, जिसमें योगाभ्यास और कामेच्छा पर विजय सम्मिलित हैं, पालन करवाता है। विशेषकर वह उसे गीता और निष्काम कर्म का सार समझाता है। प्रशिक्षण की अवधि के पूरा होने पर पाठक पूछता है, "बताओ अब तुम अपने जीवन में कौन-सा मार्ग चुनना पसन्द करोगी?" प्रफुल्ल ने उत्तर दिया, "मैं कर्म, केवल कर्म करूंगी। निश्चय ही मेरी जैसी अपरिमार्जित आत्मा के लिए ज्ञान का मार्ग उपयुक्त नहीं है।" भवानी पाठक ने कहा, "बहुत अच्छा। मुझे यह सुनकर प्रसन्नता हुई, पर तुम्हें कर्म निष्काम भाव से करना होगा ।" पाठक ने आगे कहा, "इस समय देश में कोई राजा नहीं है। मुस्लिम शक्ति का पतन हो गया है और अंग्रेज अभी आए ही हैं। वे यह नहीं जानते कि शासन कैसे चलाया जाए, उन्हें शासन चलाने की चिंता भी नहीं है। मैं स्वयं दुष्टों को दण्ड देता हूं और सज्जनों की रक्षा करता हूं।"

प्रफुल्ल में उसे वह स्त्री मिल जाती है जिसकी उसे तलाश थी—परम बुद्धिमती, सभ्य और, सुन्दर, जिसे वह रानी के रूप में स्थापित कर सकता था और जिसके नाम पर वह अपने संकल्पित कार्य को सम्पन्न कर सकता था। अतः प्रफुल्ल देवी रानी या देवी चौधरानी बन गई।

पर पांच वर्ष के कठोर आत्मानुशासन ने उसे जीवन के प्रति अनासक्त बना दिया था। डाकुओं के एक दल से संबंधित होते हुए भी उसने कभी डाका नहीं डाला, बल्कि उसके विपरीत अपनी सम्पत्ति को गरीबों में बांटा। उसको यह

पूरा विश्वास था कि मानवता की सेवा ईश्वरपूजा की सर्वोत्तम विधि है। रक्षको और शस्त्रों से सज्जित नौका पर यह देवी नदी मार्ग से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती थी और पाठक के साथी जरूरत के समय उसकी सहायता के लिए सदा उपस्थित रहते थे। यद्यपि वह स्वय डाकू नही थी, तो भी वह उन व्यक्तियो मे से थी, जिन्हे पकड़ने के लिए अग्रेज चिन्तित थे।

पाँच वर्ष बीत गए। एक बार देवी को यह समाचार मिला कि उसके ससुर गभीर आर्थिक संकट मे हैं। जब देवी के साथी ब्रजेश्वर की नौका पर हमला करके उसे देवी के पास ले आते है, तब देवी को उसकी सहायता का एक अवसर मिलता है। वह उसके समक्ष 50,000 रुपये का ऋण देने का प्रस्ताव रखती है। देवी से इस प्रकार अचानक भेंट हो जाने पर ब्रजेश्वर को बड़ी प्रसन्नता होती है। वह एक निश्चित तिथि को धन लौटाने का वादा करके उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लेता है। अपने पति के साथ इस मिलन से देवी का मन बदल जाता है। वह भवानी पाठक से अनुरोध करती है कि उसे रानी के उत्तरदायित्वो से मुक्त कर दिया जाए ताकि वह 'स्त्री डाकू' का परित्याग करके सीधा-सादा जीवन बिता सके। पर उसे तुरन्त मुक्ति नही मिलती।

इसी बीच ब्रजेश्वर अपने नीच और शैतान पिता को ऋण चुकाने के लिए तैयार करने मे असफल हो जाता है और स्वयं कुछ और अवधि की छूट मागने के लिए देवी की नौका तक जाता है। वहा जब उसे यह पता चलता है कि उसके कृतघ्न पिता ने देवी की गतिविधियो के बारे मे अंग्रेजों को सूचना दे दी है और लेफ्टिनेन्ट ब्रेनान और उसके पांच सौ सिपाहियो को लेकर उसका पिता स्वयं देवी को पकड़वाने के लिए वहा आया हुआ है, तो वह स्तम्भित रह जाता है। उसे यह भी पता चलता है कि यह सब जानते हुए भी देवी ने उससे मिलने के बाद अपने साथियों सहित अंग्रेजो के सामने हथियार डालने का निर्णय कर लिया है। वह देवी से प्रेम की भीख मागता है और गांव लौटकर उसकी सब से प्रिय पत्नी के रूप मे रहने के लिए अनुरोध करता है। इससे देवी का मन बदल जाता है। उसी समय भारी तूफान आ जाता है। तूफान का लाभ उठाकर देवी सिपाहियों के घेरे से अपनी नौका निकाल ले जाती है और अंग्रेज सेनापति और हरवल्लभ दोनों को बंदी बना लेती है। पर बाद में वह उन्हे छोड़ देती है और अपने पति के साथ गाव लौट जाती है। इस प्रकार देवी चौधरानी का अंत होता है और प्रफुल्ल का पुनर्जन्म।

इलाके पर शासन करता था। पाठक कोई साधारण डाकू नहीं है, बल्कि राबिन-हुड की तरह का डाकू है। मुस्लिम शासन के पतन और ब्रिटिश शासन के आरम्भ की इस धुंधली संधिवेला में समस्त बंगाल में अव्यवस्था और अराजकता का साम्राज्य था। कमजोरों और गरीबों पर अत्याचार हो रहे थे और वे अंतहीन दुख और पीड़ा भोग रहे थे। पाठक ने कमजोरों की रक्षा और अत्याचारियों को दण्ड देने का संकल्प कर रखा था। वह डकैती अपने सुख के लिए नहीं, बल्कि गरीबों और पिछड़े हुए लोगों की सहायता के लिए करता था।

उसके शक्तिशाली व्यक्तित्व और जीवन के पवित्र ध्येय से प्रभावित होकर प्रफुल्ल उससे पांच साल का प्रशिक्षण लेने के लिए तैयार हो जाती है ताकि वह अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर सके। पाठक उसे केवल शिक्षा और सामान्य ज्ञान का प्रशिक्षण ही नहीं देता, बल्कि उससे कड़े शारीरिक और मानसिक अनुशासन का, जिसमें योगाभ्यास और कामेच्छा पर विजय सम्मिलित हैं, पालन करवाता है। विशेषकर वह उसे गीता और निष्काम कर्म का सार समझाता है। प्रशिक्षण की अवधि के पूरा होने पर पाठक पूछता है, "बताओ अब तुम अपने जीवन में कौन-सा मार्ग चुनना पसन्द करोगी?" प्रफुल्ल ने उत्तर दिया, "मैं कर्म, केवल कर्म करूंगी। निश्चय ही मेरी जैसी अपरिमार्जित आत्मा के लिए ज्ञान का मार्ग उपयुक्त नहीं है।" भवानी पाठक ने कहा, "बहुत अच्छा। मुझे यह सुनकर प्रसन्नता हुई, पर तुम्हें कर्म निष्काम भाव से करना होगा ।" पाठक ने आगे कहा, "इस समय देश में कोई राजा नहीं है। मुस्लिम शक्ति का पतन हो गया है और अंग्रेज अभी आए ही हैं। वे यह नहीं जानते कि शासन कैसे चलाया जाए, उन्हें शासन चलाने की चिंता भी नहीं है। मैं स्वयं दुष्टों को दण्ड देता हूं और सज्जनों की रक्षा करता हूं।"

प्रफुल्ल में उसे वह स्त्री मिल जाती है जिसकी उसे तलाश थी—परम बुद्धिमती, सभ्य और सुन्दर, जिसे वह रानी के रूप में स्थापित कर सकता था और जिसके नाम पर वह अपने संकल्पित कार्य को सम्पन्न कर सकता था। अतः प्रफुल्ल देवी रानी या देवी चौधरानी बन गई।

पर पांच वर्ष के कठोर आत्मानुशासन ने उसे जीवन के प्रति अनासक्त बना दिया था। डाकुओं के एक दल से संबंधित होते हुए भी उसने कभी डाका नहीं डाला, बल्कि उसके विपरीत अपनी सम्पत्ति को गरीबों में बांटा। उसको यह

पूरा विश्वास था कि मानवता की सेवा ईश्वरपूजा की सर्वोत्तम विधि है। रक्षकों और शस्त्रों से सज्जित नौका पर यह देवी नदी मार्ग से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती थी और पाठक के साथी जरूरत के समय उसकी सहायता के लिए सदा उपस्थित रहते थे। यद्यपि वह स्वयं डाकू नही थी, तो भी वह उन व्यक्तियो मे से थी, जिन्हें पकड़ने के लिए अंग्रेज चिन्तित थे।

पाँच वर्ष बीत गए। एक बार देवी को यह समाचार मिला कि उसके ससुर गंभीर आर्थिक संकट में है। जब देवी के साथी ब्रजेश्वर की नौका पर हमला करके उसे देवी के पास ले आते है, तब देवी को उसकी सहायता का एक अवसर मिलता है। वह उसके समक्ष 50,000 रुपये का ऋण देने का प्रस्ताव रखती है। देवी से इस प्रकार अचानक भेंट हो जाने पर ब्रजेश्वर को बड़ी प्रसन्नता होती है। वह एक निश्चित तिथि को धन लौटाने का वादा करके उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लेता है। अपने पति के साथ इस मिलन से देवी का मन बदल जाता है। वह भवानी पाठक से अनुरोध करती है कि उसे रानी के उत्तरदायित्वो से मुक्त कर दिया जाए ताकि वह 'स्त्री डाकू' का परित्याग करके सीधा-सादा जीवन बिता सके। पर उसे तुरन्त मुक्ति नही मिलती।

इसी बीच ब्रजेश्वर अपने नीच और शैतान पिता को ऋण चुकाने के लिए तैयार करने में असफल हो जाता है और स्वयं कुछ और अवधि की छूट मागने के लिए देवी की नौका तक जाता है। वहां जब उसे यह पता चलता है कि उसके कृतघ्न पिता ने देवी की गतिविधियों के बारे मे अंग्रेजो को सूचना दे दी है और लेफ्टिनेन्ट ब्रेनान और उसके पांच सौ सिपाहियों को लेकर उसका पिता स्वयं देवी को पकड़वाने के लिए वहां आया हुआ है, तो वह स्तम्भित रह जाता है। उसे यह भी पता चलता है कि यह सब जानते हुए भी देवी ने उससे मिलने के बाद अपने साथियों सहित अंग्रेजों के सामने हथियार डालने का निर्णय कर लिया है। वह देवी से प्रेम की भीख मागता है और गाव लौटकर उसकी सब से प्रिय पत्नी के रूप मे रहने के लिए अनुरोध करता है। इससे देवी का मन बदल जाता है। उसी समय भारी तूफान आ जाता है। तूफान का लाभ उठाकर देवी सिपाहियों के घेरे से अपनी नौका निकाल ले जाती है और अंग्रेज सेनापति और हरवल्लभ दोनों को बंदी बना लेती है। पर बाद मे वह उन्हे छोड़ देती है और अपने पति के साथ गाव लौट जाती है। इस प्रकार देवी चौधरानी का अंत होता है और प्रफुल्ल का पुनर्जन्म।

पत्नी के रूप में प्रफुल्ल अपने प्रशिक्षण और आत्म-साधना का सुन्दर प्रमाण देती है। वह सब की सेवा करती है और घर को सुख और शांति से भर देती है। पाठक से उसने दूसरों के हित के लिए अपनी इच्छाओं का त्याग करने की शिक्षा ली है। प्रफुल्ल की साधना 'अहं' भावना से पूरी तरह मुक्त थी। यद्यपि वह संसार में रहती थी, लेकिन वह उससे परे थी। एक दृष्टि से वह सब सामाजिक इच्छाओं से मुक्त थी। उसने निष्काम कर्मी जीवन जीने का अभ्यास किया था, और साथ ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कर्म के मार्ग का अनुसरण कर रही थी। इच्छा का अर्थ है अपने लिए सुख की खोज, कर्म का अर्थ है दूसरों के लिए सुख की खोज।

देवी चौधरानी और भवानी पाठक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, जिनका उल्लेख कई प्राचीन अभिलेखों में मिलता है। हंटर कृत 'स्टेटिस्टिकल एकाउण्टस् ऑफ बंगाल' में लिखा है कि लेफ्टिनेन्ट ब्रेनान ने 1787 में पाठक के विरुद्ध युद्ध किया और उसे मारा। देवी चौधरानी नाम की एक स्त्री-डाकू की पाठक के साथ साठ-गाठ थी। रंगपुर जिला (अब बंगला देश में) 'देवी चौधरानी' के कथानक का घटना-स्थल था। कलेक्टर ग्लेजियर की रंगपुर संबंधी रिपोर्ट से पता चलता है कि उन दिनों डकैती एक आम बात थी। इतिहासकार यदुनाथ सरकार के अनुसार पाठक बिहार के आरा जिले का था और 1787 में अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ता हुआ मारा गया।* 'देवी चौधरानी' लिखते समय भी स्पष्टतः बंकिम का लक्ष्य ऐतिहासिक उपन्यास लिखना नहीं था। उन्होंने तो केवल उसमें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को यथातथ्य प्रस्तुत किया। जहां तक चरित्रों का संबंध है, उन्होंने उनका अस्थिपंजर इतिहास से लिया है और उन्हें नया रक्त और मांस देकर दलित मानवता के निष्ठावान मुक्तिदूतों के रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः उन्होंने उपलब्ध सामग्री के आधार पर ऐसी कथा गढ़ी, जो उनकी वैचारिक आवश्यकताओं के अनुरूप थी। भवानी कोई मामूली डाकू नहीं है, न देवी ऐतिहासिक अभिलेखों में वर्णित उस अंधकारमय अवधि की आततायी स्त्री है। वह दयाव्रतधारियों के दल की रानी है।

'सीताराम' हमें जसौर और खुलना जिलों (अब बंगला देश में) के प्राचीन इतिहास की ओर ले आता है। सीताराम राय भूषण गांव का एक धनी और शक्ति-

* बंकिम रचनावली, शतवार्षिकी संस्करण, बंगीय साहित्य परिषद्

शाली जमींदार था, जिसने मुहम्मदपुर नाम से एक नई राजधानी का निर्माण किया और उसमें शान से रहने लगा। जसौर जिले के संबंध मे अपनी रिपोर्ट मे वेस्टलैंड ने लिखा है कि दिल्ली के सम्राट ने जब सीताराम को अपनी ओर से बारह प्रान्तों के राजाओं से राजस्व इकट्ठा करने को कहा, तब उसने उन क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया और स्वयं अपने को वहां का शासक घोषित कर दिया और नवाब को राजस्व देने से इन्कार कर दिया। पर सम्राट के प्रति उसने ऐसा व्यवहार नहीं किया। नवाब ने उस पर आक्रमण कर दिया। किलाबंदी-युक्त अपने नगर के भीतर से लड़ते हुए सीताराम ने नवाब की सेनाओं को पराजित कर दिया। पर अन्ततः वह नवाब द्वारा पकड़ लिया गया या फिर उसने स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया। एक कहानी के अनुसार उसने जहर खाकर आत्महत्या कर ली। एक अन्य कहानी के अनुसार उसे जिंदा सूली पर चढ़ा दिया गया। यह सब 18 वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों मे हुआ। इस उपन्यास के लिए भी उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री अपर्याप्त थी। पर बंकिम का लक्ष्य ऐतिहासिक उपन्यास लिखना नहीं था, यद्यपि इसमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सही चित्रण किया गया है। इस सामग्री के आधार पर उन्होंने एक ऐसे नायक की कथा का निर्माण किया, जिसके मन मे धर्म और नैतिकता के आधार पर एक न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना करने की उत्कट इच्छा थी और जिसने एक पतनशील राज्य के शोषण और अत्याचारों का साहस के साथ मुकाबला किया। पर कथानक मे दिलचस्पी का विषय उतना यह नहीं है जितनी कि आत्मसंयम की कमी के कारण सक्षम महान चरित्र के क्रमशः पतन की घटना है। इसमें दिलचस्पी का विषय ऐतिहासिक तथ्य नहीं, बल्कि मानव स्वभाव और नैतिकता का चित्रण है।

सीताराम की कहानी संक्षेप मे इस प्रकार है। अपने साले गंगाराम को जीवित दफना दिए जाने से बचाने के प्रयास में सीताराम का एक मुसलमान काजी के साथ युद्ध हो जाता है और वह वहां से बचकर कहीं और चला जाता है। वहां वह मुहम्मदपुर नाम से एक नया नगर बसाता है, जिसमे वह एक हिन्दू राज्य की स्थापना करता है। वह उस नगर की अच्छी तरह किलाबंदी करवा कर उसमें बहुत से सुन्दर भवनों का निर्माण करवाता है। सीताराम चाहे कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, उसके जीवन में एक दुखद रहस्य है। वह अपनी पहली पत्नी श्री के साथ कभी इकट्ठा नहीं रहा, क्योंकि किसी ने यह भविष्य-वाणी कर दी थी कि श्री अपने किसी अत्यन्त प्रियजन अर्थात पति की मृत्यु का

लिए बकिम ने इतिहास के धुधले काल को चुना था, ताकि उनको अपनी कल्पना शक्ति को स्वच्छन्द उडान भरने का अवसर मिले। ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य सामाजिक परिवेश मे से उन्होने ऐसे चरित्रो को चुना, जिनको वह अपनी आवश्यकता के अनुरूप ढाल कर नया आयाम प्रदान कर सकते थे।

वह कौन-सा सदेश है, जो वह इन पुस्तको के माध्यम से देना चाहते थे। सर्वप्रथम इन तीनो ही मे सड़ी-गली, सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के, जो शक्तिशाली के अत्याचारो से निर्बलों की रक्षा करने और सब को समान न्याय दिलाने मे असफल रही थी, विरुद्ध विद्रोह की भावना अभिव्यक्त हुई है। इस भावना से यह स्पष्ट है कि बकिम अराजकता, सामाजिक असतुलन और सामाजिक अन्याय से कितने दुखी, पीडित थे। ये उपन्यास देश की और व्यापक परिप्रेक्ष्य मे समस्त मानवता की, सेवा की उनकी पवित्र भावना और न्याय, नैतिकता और निष्पक्षता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की उनकी उत्कट इच्छा का प्रतिनिधित्व करते है। 'आनन्दमठ' में उन्होने देशभक्ति की महिमा का ऐसा गुणगान किया कि समस्त देशवासियो मे एक लहर-सी दौड़ गई। देवी चौधरानी मे भी परोपकारी डकैतो के जोशीले सदर्भ के माध्यम से मानवता की सेवा का सदेश दिया है। 'सीताराम' मे न्यायिक व्यवस्था की, क्योकि केवल इसके अन्तर्गत ही सामाजिक हित हो सकता है, पुनीत भावना का विकास होता है, यद्यपि अन्त में व्यक्ति को पतन के कारण उसमे सफलता नही मिलती।

कुल मिलाकर बकिम ऐसे उच्चतर आयाम मे एक सन्देश देते हैं, जो राजनीतिक भी है और नैतिक भी। 'आनन्दमठ' के अन्त मे कहा गया है अपवित्र साधनो से पवित्र ध्येय की प्राप्ति न्यायसगत नही है। सत्यानन्द को जब सफलता पर सफलता मिल रही थी, तब उसे हिमालय के मौन आध्यात्मिक वातावरण में जाने को कहा गया, क्योकि उसने डकैती और लूटपाट के जो साधन अपनाए थे वे उसकी उच्च देशभक्ति की भावना की पूर्ति के लिए उपयुक्त नही थे। वर्षों बाद गाधीजी ने लोगों को यह शिक्षा दी कि पवित्र साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी उतने ही पवित्र होने चाहिए। जब कभी गाधीजी यह देखते थे कि उनके नेतृत्व में सचालित जन-आन्दोलन मे पाप या हिंसा प्रवेश कर गई है, तब सफलता की ओर अग्रसर होने के बावजूद वह आन्दोलन बन्द कर देते थे और

अपनी आत्मा की एकान्तता मे विचरने लगते थे। वस्तुतः यह कहना अतिशयोक्ति नही होगा कि बंकिम पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने राजनीतिक और सामाजिक सेवा के क्षेत्रो मे नैतिकता का प्रवेश कराया। बंकिम ने आधुनिक देशभक्ति की भावना में भारतीय नैतिकता की प्राचीन भावना को समाविष्ट किया।

'देवी चौधरानी' मानो बंकिम के आत्म-साधना के उस सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है जिसका निरूपण उन्होंने अपने कई ग्रंथो, विशेषकर 'धर्मतत्व' मे किया है। इस सिद्धान्त मे, जैसा कि हम आगे पढ़ेगे, मनुष्य का यह कर्तव्य बताया गया है कि वह सभी मानवीय क्षमताओं के सतुलित विकास के लिए प्रयत्न करे। धर्म का मूल है साधना—यह है वह संदेश जो बंकिम इस उपन्यास के माध्यम से देना चाहते है। इसके अतिरिक्त इसमे मानवता की सेवा को उच्च नैतिकता प्रदान की गई है, क्योकि समस्त मानवता ईश्वर का ही रूप है। 'आनन्दमठ' की भांति इसमे भी साधन और साध्य का प्रश्न उठता है, क्योकि कहानी के अन्त मे भवानी पाठक अन्ततः यह अनुभव करता है कि चाहे अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सही, उसने डकैती डालकर पाप किया है और उसका प्रायश्चित करने के लिए वह अपने को अंग्रेजो के हवाले कर देता है। 'सीताराम' मे संतुलित व्यक्तित्व और न्यायिक सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की प्राप्ति के लिए आवश्यक बुनियादी तत्वों के रूप मे उच्च नैतिक मूल्यों को प्राथमिक माना गया है। सीताराम के नायक मे कई उच्च गुण हैं, पर न उसका व्यक्तित्व संतुलित है और न उसमे आत्मसयम के मूल गुण है। इस घातक अभाव के कारण वह स्वय और उसके श्रेष्ठ नायकोचित गुणो के कारण निर्मित उसका न्यायाधारित शासन तहस-नहस हो जाता है।

ये तीनो ही उपन्यास विवादास्पद है। कुछ आलोचको के अनुसार बंकिम की ये सर्वोत्कृष्ट कृतियां हैं, क्योकि इनमे उनके राष्ट्र निर्माण के संदेश और दार्शनिक विचारों का सार है। इनके सब से बड़े प्रशंसक श्री अरविन्द हैं, जिनका कहना है. "यह संभव है कि भावी साहित्यिक समालोचक 'कपालकुण्डला', 'विषवृक्ष' और 'कृष्णकान्तेर विल' को उनकी श्रेष्ठ कृतियां करार दें और उनकी 'देवी चौधरानी', 'आनन्दमठ', 'कृष्ण-चरित्र' और 'धर्मतत्त्व' की सीमित प्रशंसा करें, तो भी इन बाद की रचनाओं के बंकिम को, न कि महान सृजनात्मक कृतियो के बंकिम को, आधुनिक भारत के निर्माताओं मे स्थान मिलेगा।

पहले का बंकिम एक कवि और शैलीकार था। बाद का बकिम एक ऋषि और राष्ट्र-निर्माता था।"*

और कई आलोचक हैं जो इन तीनो उपन्यासो को कलात्मकता की दृष्टि से ऊचा स्थान नही देते। रवीन्द्रनाथ ठाकुर बकिमचन्द्र के महान प्रशसक थे, पर वह कलात्मक दृष्टि से 'आनन्दमठ' को अधिक महत्त्व नही देते। पर साफ बात यह है कि कला या यथार्थ का चित्रण बकिम के इन उपन्यासो का ध्येय नही था। इन उपन्यासो मे ये सब कलात्मक आवश्यकताए कुशल उपदेशात्मकता और एक महान सदेश प्रसारित करने के सर्वोपरि उद्देश्य के समक्ष गौण है। उदाहरण के लिए, देवी अचानक डाकुओं की एक रानी मे सीधी-सादी गृहिणी बन जाती है, जो अपना घरेलू कामकाज और अपने पति तथा परिवार के अन्य सदस्यों की सेवा करती है। यथार्थ या कला की दृष्टि से ऐसा परिवर्तन शायद अवांछित है। पर बकिम के लिए कहानी मे ऐसा मोड़ अनिवार्य था। वह यह दिखाना चाहते थे कि अपनी पांच वर्ष की कठिन आत्म-साधना के माध्यम से देवी ने ऐसा उच्च संतुलित व्यक्तित्व पा लिया था कि वह कैसी भी परिस्थितियो से तालमेल बैठा सकती थी और एक बड़े समाज की इकाई के रूप मे परिवार की सेवा कर सकती थी। इसी प्रकार सीताराम का भी बिना किसी पूर्व भूमिका के सहसा पतन केवल मनुष्य मे आत्मसंयम की कमी के घातक परिणामो को दर्शाने के लिए किया गया। इनमे आकस्मिक घटनाए प्रचुर है। कही-कही तो आवश्यक सत्यापन की भी चिन्ता नही की गई। चरित्र कुछ पूर्व विचारित निश्चित साचो मे ढाले गए है। बकिम ने जानबूझकर कलात्मकता की उपेक्षा की है क्योकि वह चाहते थे कि सदेश प्रमुख रहे और उपदेशात्मकता के कारण ही ये पुस्तकें स्वय अपने मे एक वर्ग बन गई है।

क्या बंकिम मुस्लिम-विरोधी थे? यह प्रश्न इन तीन उपन्यासो और 'राजसिंह' के संबध मे महत्त्वपूर्ण बन जाता है। यह प्रश्न जोरदार ढंग से 30-40 वर्षों मे सामने आया, जब मुसलमानो के एक वर्ग ने बंकिम को मुसलमानो से घृणा करने वाला कह कर उनकी भर्त्सना की। विद्वत वर्गों में इस प्रश्न की गहराई से जाच की गई और यह पाया गया कि बंकिम वास्तव मे मुस्लिम-विरोधी नही थे और उनके विरुद्ध यह जो नारा दिया गया वह मुख्यतः राजनीति से प्रेरित था।

* बंकिम, तिलक, दयानन्द

निस्सदेह बंकिम हिन्दू धर्म से, उसके विशुद्ध रूप में, गहराई से सम्बद्ध थे। लेकिन अपने धर्म के प्रति उनकी आस्था का यह अर्थ नही था कि वह दूसरे धर्मों के प्रति विद्वेष रखते थे। उनकी समस्त कृतियों में कहीं भी पाठक को किसी रूप में भी धार्मिक कट्टरता के दर्शन नहीं होते। इसके विपरीत जैसा कि हम अगले अध्याय में देखेंगे उन्होंने हिन्दू धर्म की बड़ी उदार व्याख्या प्रस्तुत की, ताकि उसे सार्वभौमिक स्वीकृति मिल सके। इसी प्रकार कहीं भी उन्होंने इस्लाम की धर्म के रूप में या मुसलमानों की सम्प्रदाय के रूप में जरा भी निन्दा नहीं की। यदुनाथ सरकार का कहना है, "आज तक कोई भी व्यक्ति यह नहीं दिखा सका कि बंकिमचन्द्र ने अपनी रचनाओं में इस्लाम की सच्चाई और उसूलों को गलत सिद्ध करने का प्रयास किया हो या इस्लाम धर्म के प्रवर्तक के लिए अपशब्दों का प्रयोग किया हो. . ।" * 'आनन्दमठ', 'देवी चौधरानी' और 'सीताराम' में उन्होंने पृष्ठभूमि के लिए मुस्लिम ह्रास की अवधि चुनी, जो ऐतिहासिक दृष्टि से निर्विवाद है और उन्होंने उसको इसलिए नहीं चुना कि उन्हें मुसलमानों के प्रति कोई विद्वेष था, बल्कि इसलिए चुना कि वह उनकी कलात्मक और वैचारिक आवश्यकताओं के लिए सर्वाधिक उपयुक्त थी। इस पृष्ठभूमि में यदि देखें तो जैसा कि श्री रजा-उल करीम ने कहा है, "उन्होंने कुछ जीवित चरित्रों का चित्रण किया है, इसलिए प्रेम या घृणा का प्रश्न बिलकुल नहीं उठता।"** यदि कोई उनके उपन्यासों के आधार पर अनुमान लगाना चाहे तो देखा जाएगा कि उनका क्रोध अंग्रेजों के प्रति रहा है। 'आनन्दमठ' में युद्ध मुख्यतः कम्पनी के सिपाहियों के साथ है। 'देवी चौधरानी' में भी अंग्रेज ही देवी और पाठक को बंदी बनाने का प्रयत्न करते हैं। मुसलमान शासक पृष्ठभूमि में हैं। यदि पतनशील मुस्लिम शासन की भर्त्सना की गई है, तो इसलिए नहीं कि वह मुस्लिम शासन है, बल्कि इसलिए कि यह पतनशील है।

इसका प्रमाण बंकिम द्वारा किया गया सीताराम का चरित्र चित्रण है। सीताराम का सलाहकार चांदशाह नाम का एक मुसलमान फकीर था। उसने उस फकीर की सलाह पर अपनी राजधानी का नाम 'मुहम्मदपुर' रखा। वह उस फकीर का, जो हिन्दू और मुसलमानों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखता था, बड़ा आदर करता था। उसी प्रकार सीताराम स्वयं भी मुसलमानों के प्रति

* बंकिम सेंटेनरी सप्लीमेन्ट, हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड, 26 जून, 1938।

** बंकिमचन्द्र और मुसलमान समाज

भेदभाव नहीं रखता था और अपनी सारी प्रजा, हिन्दू और मुसलमानों के साथ समान व्यवहार करता था। साथ ही बंकिम ने सीताराम के हिन्दू धर्म के आदर्शों से पतन का खुलकर चित्रण किया है और यह दिखाया है कि किस प्रकार श्री को न पा सकने के कारण, निराश होकर उसने प्रजा पर निरंकुश अत्याचार किए। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि सीताराम द्वारा श्री की सन्यासिनी साथिन जयन्ती को नंगा करके सार्वजनिक स्थान पर कोड़े लगवाने का आदेश देना उसका ऐसा कृत्य था जो हिन्दू धर्म-विरोधी था। किसी नायक के अनाचार और पतन का इससे अधिक खुला चित्रण नही हो सकता। बंकिम ने सीताराम को भी, जिसे वह मुस्लिम शासन का विरोध करने वाले अंतिम वीर हिन्दू शासक के रूप मे चित्रित करना चाहते थे, कतई नही बख्शा। सीताराम के पतन की उस अवस्था मे फकीर अत्यन्त निराश होकर ये कटु शब्द कहता हुआ मक्का जाने के लिए निकल पड़ता है, "मैंने यह निर्णय कर लिया है कि मै वहा नही रहूगा जहा हिन्दू रहते हैं। यह शिक्षा मुझे सीताराम से मिली है।" क्या किसी पतित हिन्दू राजा के लिए इससे भी बढ कर कोई कलक हो सकता है। यदि बकिम मुस्लिम-विरोधी होते, तो वह एक मुसलमान फकीर के मुह से एक हिन्दू राजा की इस प्रकार भर्त्सना न करवाते। अतः बंकिम उन शासकों के प्रति कटु थे, जो मानवीय मूल्यो से रहित थे, फिर चाहे वे हिन्दू हो या मुसलमान, इससे कोई अतर नही पड़ता।

'राजसिंह' एक दूसरा उपन्यास है, जिस पर गलत तरीके से मुस्लिम-विरोध का लाछन लगाया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखे तो यह एक राजपूत राजा और मुगल बादशाह के बीच युद्ध की कहानी है। इसमे सम्प्रदाय, धर्म या मुसलमानो के प्रति किसी प्रकार के उपेक्षा भाव का कोई प्रश्न नही है। इसमे मुगल सम्राट के आक्रमणों मे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए एक छोटे से राज्य के शासक के वीरतापूर्ण प्रयासो का लेखा-जोखा है। मूलतः यह साम्राज्यवादी आक्रमण के विरुद्ध देशभक्तिपूर्ण युद्ध की सार्वभौमिक महत्त्व की कहानी है। इसे पढ कर मन मे जाति या धर्म से परे गहरी देशभक्ति की भावना पैदा होती है। 'राजसिह' एक शक्तिशाली शासक के सैनिक साम्राज्यवादी इरादे के विरुद्ध वीरतापूर्ण मुकाबले का अमर प्रतीक रहेगा।

इस सबंध मे मानो गलतफहमी दूर करने के लिए ही सभवत. बकिम ने स्वयं पुस्तक के अंत में लिखा है, "कोई अच्छा केवल इसलिए नही है कि वह हिन्दू

है और बुरा इसलिए नही है कि वह मुसलमान है। इसी प्रकार यह कहना भी सत्य नही है कि सभी हिन्दू बुरे है या सभी मुसलमान अच्छे हैं। दोनो ही जातियों मे अच्छे या बुरे लोग हैं। बल्कि यह स्वीकार करना होगा कि चूंकि मुसलमानों ने भारत मे इतनी शताब्दियो तक शासन किया, इसलिए वे निश्चित ही शासक के गुणो की दृष्टि से अपने समसामयिक हिन्दुओ से श्रेष्ठ रहे होंगे। पर यह भी सत्य नही है कि सभी मुसलमान शासक हिन्दू शासको से श्रेष्ठ थे। कुछ मुसलमान शासक गुणी थे, तो कुछ हिन्दू शासक बेहतर थे।"

बंकिम की विस्तृत चित्रशाला मे हमे दोनो जातियों के अच्छे और बुरे पुरुषों और महिलाओ के दर्शन होते हैं। कला की दृष्टि से यह एक दिलचस्प बात है कि बंकिम द्वारा चित्रित सर्वोत्कृष्ट पात्रो मे से कुछ मुसलमान है। आयशा अपने सौंदर्य, प्रेम और जगतसिंह के प्रति एकनिष्ठता के कारण एक अद्वितीय पात्र है। वह बंकिम की सर्वाधिक मनमोहक महिला पात्र है। उस्मान और मुबारक दोनो वीर पात्र है और वीरता के उच्च गुणो से सपन्न हैं। यहा तक कि 'मृणालिनी' का गौण पात्र मुहम्मद अली भी अपने अच्छे कार्यो के कारण देदीप्यमान है, जबकि एक हिन्दू मंत्री पशुपति को घृणित देशद्रोही के रूप मे चित्रित किया गया है।

कुछ व्यक्तियो का यह आरोप है कि बंकिम ने भारतीय समाज के बहुमुखी स्वरूप की उपेक्षा की। पर यह कथन सत्य प्रतीत नही होता। हिन्दू मूल्यों के प्रति पूर्ण आस्था के बावजूद बंकिम ने भारत की जनसख्या के समष्टिगत रूप की कदापि उपेक्षा नही की। उनकी कई रचनाओं से यह प्रमाणित हो जाता है। उदाहरण के लिए, भारतीय कृषक सबधी उनकी धारणा मे हाशिम शेख और राम कैवर्त एक मुसलमान और एक हिन्दू कृषक सम्मिलित हैं। भारतीय किसानों के प्रति वह जो गहरी सहानुभूति व्यक्त करते है, वह दोनो जातियो के किसानो के लिए है। इतिहास विषयक उनके निबन्धो से यह पता चलता है कि वह उस ऐतिहासिक प्रक्रिया के प्रति पूरी तरह सचेत थे जो मुसलमानो को भारत मे लाई और अततः उन्हें इसका अंग बना दिया। (देखिए, 'भारत कलक')

बंकिम की आस्था बुनियादी मूल्यों मे थी, न कि साम्प्रदायिक भेदभाव मे। इन मूल्यों को उन्होने धर्म कहा है। यह एक अलग बात है कि उनकी राय में हिन्दू धर्म मे 'धर्म' के तत्त्व सबसे अधिक हैं। पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि धर्म अर्थात

चरित्र के बुनियादी गुण मनुष्य मे अवश्य होने चाहिए, चाहे वह किसी भी धर्म का क्यों न हो। उनके उदार विचारों की इससे अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति और किसी प्रकार नही हो सकती जितनी कि 'राजसिंह' के आमुख में लिखे गए निम्न शब्दो से होती है, "कोई व्यक्ति, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, जिसमे अन्य गुणों के साथ 'धर्म' है, श्रेष्ठ है। वह व्यक्ति, जिसमे और सब गुण है, पर 'धर्म' से रहित है, निकृष्ट है, फिर चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान।"

11. समाज सुधार और राजनीति सम्बन्धी विचार

सामान्यत एक सरकारी कर्मचारी को अपने राजनीतिक विचार व्यक्त करने की छूट नही होती, फिर भी बंकिम ने अपने इस प्रकार के विचारो को व्यक्त करने मे आनाकानी नही की। कही-कही तो वह सरकार की खुली आलोचना मे भी उतर आए। उनकी कथासाहित्येतर रचनाओ, यहाँ तक कि व्यंग्य लेखो मे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने देश के लिए किस प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था चाहते थे। ये विचार उनकी रचनात्मक चिन्तना का सार सामने लाकर रख देते हैं।

बंकिम की प्रसिद्धि का युग भारतीय राष्ट्रवाद का बीजारोपण का युग था। 1876 मे सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और आनन्दमोहन बोस के नेतृत्व मे इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना हुई, जिसने अन्यायपूर्ण निर्णयो के विरुद्ध बहुत-से आदोलनो का सूत्रपात किया। असैनिक सेवा के मामले मे एसोसिएशन ने समस्त भारत से सहयोग की अपील करने का निर्णय किया। इस संदर्भ मे सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने सारे भारत का दौरा किया, जिससे राष्ट्रीय एकता की बढती हुई भावना को बल मिला। 1877 के दिल्ली दरबार मे सारे भारत के प्रतिनिधियो को एक मच पर इकट्ठा होने का अवसर मिला। 'आर्म्स एक्ट' और 1878 के 'वर्नाकुलर प्रेस एक्ट' के विरुद्ध आदोलन, 1883 का 'इलबर्ट बिल आन्दोलन' उसी वर्ष का प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन और 1885 मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना—ये भारतीय राष्ट्रवाद के उन प्रारंभिक दिनो की कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाएँ थी। प्रश्न यह है कि देश की राजनीतिक गतिविधियो के सबंध मे बंकिम की स्थिति क्या थी?

1857 के विद्रोह के तुरन्त बाद तक और उससे पहले सरकारी कर्मचारियो को जो स्वतन्त्रता प्राप्त थी, उसका फायदा उठाकर बंकिम 1863 मे खुलना मे कार्य करते हुए ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन के सदस्य बन गए।*

* बंकिम रचनावली भाग-2, साहित्य ससद, जे. सी. बागल लिखित प्रस्तावना

जब इंडियन एसोसिएशन की स्थापना हुई, तब बंकिम ने उसे सहानुभूति भरा एक पत्र लिखा और 1879 मे एक प्रतिनिधि मडल को इग्लैंड भेजने के लिए धनराशि एकत्र करने मे एसोसिएशन की सहायता की। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सार्वजनिक हित के लिए राजनीतिक सगठन की स्थापना के प्रति उनकी सहानुभूति थी। पर आगे चल कर लगता है उनको इस प्रकार की कार्यपद्धति मे विश्वास नही रहा, या यो कहें कि उनके विचारो मे कुछ परिवर्तन आ गया। सेवा-निवृत्ति के बाद वह भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के सदस्य बन सकते थे, पर उसके उद्देश्यों और लक्ष्यों के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी उन्होंने ऐसा नही किया। विजयलाल दत्त के अनुसार बंकिम का कहना था कि "मै यह तो नही कह सकता कि मुझे कांग्रेस से सहानुभूति नही है। यह निर्विवाद है कि इसके सम्मुख एक पवित्र उद्देश्य है, पर इसकी कार्य-पद्धति ऐसी है जो जन-सहयोग से दूर है।" इसके सभी आदोलन अल्पकालिक है और उनमे आतरिक शक्ति का अभाव है।"* उन्होंने दत्त से कहा कि यद्यपि मैं अब सरकारी सेवा के बन्धनो से मुक्त हूँ, पर फिलहाल मेरा काग्रेस मे शामिल होने का कोई इरादा नही है। यह नही कहा जा सकता कि वह बाद मे भी किसी समय काग्रेस मे शामिल होना चाहते थे या नही। पर यह स्पष्ट है कि काग्रेस के 'पवित्र उद्देश्यो' के प्रति उन्हें पूरी सहानुभूति थी। उन्हें इसकी कार्यपद्धति पसन्द नही थी जिसके कारण वह कुछेक उच्चवर्गीय व्यक्तियो तक सीमित रहती थी और जनता मे उसका सबध स्थापित नही हो पाता था।

उनके सामाजिक-राजनीतिक विचारो की विस्तार मे जांच करने से पहले उनका अखिल भारतीय स्तर पर स्थान निर्धारित करना आवश्यक है। कुछ हल्कों का ऐसा विचार है कि बंकिम सारे भारत के नहीं अपितु केवल बगाल के संदर्भ में सोचते थे। यह विचार पूर्णतः सत्य नही है। यह सत्य है कि अपनी कुछ रचनाओं में उन्होंने केवल बगाल का जिक्र किया है। यह भी सत्य है कि वह बंगाल के साहित्य, इतिहास और संस्कृति के पुनरुज्जीवन के लिए बहुत गम्भीरता से प्रयत्न कर रहे थे। पर यह कहना गलत है कि उनका दृष्टिकोण प्रातीय था या भारतीय राष्ट्रवाद की बढ़ती हुई भावना से वह अछूते थे। उनकी रचनाओं मे अक्सर अखिल भारतीय चेतना के दर्शन होते है और इस दृष्टि से वे रचनाएँ सारे

* भारती, आषाढ़ 1301 (वि. सं.)

11. समाज सुधार और राजनीति सम्बन्धी विचार

सामान्यतः एक सरकारी कर्मचारी को अपने राजनीतिक विचार व्यक्त करने की छूट नहीं होती, फिर भी बंकिम ने अपने इस प्रकार के विचारों को व्यक्त करने में आनाकानी नहीं की। कहीं-कहीं तो वह सरकार की खुली आलोचना में भी उतर आए। उनकी कथासाहित्येतर रचनाओं, यहाँ तक कि व्यंग्य लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने देश के लिए किस प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था चाहते थे। ये विचार उनकी रचनात्मक चिन्तना का सार सामने लाकर रख देते हैं।

बंकिम की प्रसिद्धि का युग भारतीय राष्ट्रवाद का बीजारोपण का युग था। 1876 में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और आनन्दमोहन बोस के नेतृत्व में इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना हुई, जिसने अन्यायपूर्ण निर्णयों के विरुद्ध बहुत-से आंदोलनों का सूत्रपात किया। असैनिक सेवा के मामले में एसोसिएशन ने समस्त भारत से सहयोग की अपील करने का निर्णय किया। इस संदर्भ में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने सारे भारत का दौरा किया, जिससे राष्ट्रीय एकता की बढ़ती हुई भावना को बल मिला। 1877 के दिल्ली दरबार में सारे भारत के प्रतिनिधियों को एक मंच पर इकट्ठा होने का अवसर मिला। 'आर्म्स एक्ट' और 1878 के 'वर्नाकुलर प्रेस एक्ट' के विरुद्ध आंदोलन, 1883 का 'इल्बर्ट बिल आन्दोलन' उसी वर्ष का प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन और 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना—ये भारतीय राष्ट्रवाद के उन प्रारंभिक दिनों की कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाएँ थीं। प्रश्न यह है कि देश की राजनीतिक गतिविधियों के संबंध में बंकिम की स्थिति क्या थी?

1857 के विद्रोह के तुरन्त बाद तक और उससे पहले सरकारी कर्मचारियों को जो स्वतन्त्रता प्राप्त थी, उसका फायदा उठाकर बंकिम 1863 में खुलना में कार्य करते हुए ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन के सदस्य बन गए।*

---

* बंकिम रचनावली भाग-2, साहित्य संसद, जे. सी. बागल लिखित प्रस्तावना

जब इंडियन एसोसिएशन की स्थापना हुई, तब बंकिम ने उसे सहानुभूति भरा एक पत्र लिखा और 1879 में एक प्रतिनिधि मंडल को इंग्लैंड भेजने के लिए धनराशि एकत्र करने में एसोसिएशन की सहायता की। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सार्वजनिक हित के लिए राजनीतिक संगठन की स्थापना के प्रति उनकी सहानुभूति थी। पर आगे चल कर लगता है उनको इस प्रकार की कार्यपद्धति में विश्वास नहीं रहा, या यों कहें कि उनके विचारों में कुछ परिवर्तन आ गया। सेवा-निवृत्ति के बाद वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सदस्य बन सकते थे, पर उसके उद्देश्यों और लक्ष्यों के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी उन्होंने ऐसा नहीं किया। विजयलाल दत्त के अनुसार बंकिम का कहना था कि "मैं यह तो नहीं कह सकता कि मुझे कांग्रेस से सहानुभूति नहीं है। यह निर्विवाद है कि इसके सम्मुख एक पवित्र उद्देश्य है, पर इसकी कार्य-पद्धति ऐसी है जो जन-सहयोग से दूर है।" इसके सभी आंदोलन अल्पकालिक है और उनमें आंतरिक शक्ति का अभाव है।"* उन्होंने दत्त से कहा कि यद्यपि मैं अब सरकारी सेवा के बन्धनों से मुक्त हूँ, पर फिलहाल मेरा कांग्रेस में शामिल होने का कोई इरादा नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि वह बाद में भी किसी समय कांग्रेस में शामिल होना चाहते थे या नहीं। पर यह स्पष्ट है कि कांग्रेस के 'पवित्र उद्देश्यों' के प्रति उन्हें पूरी सहानुभूति थी। उन्हें इसकी कार्यपद्धति पसन्द नहीं थी जिसके कारण वह कुछेक उच्चवर्गीय व्यक्तियों तक सीमित रहती थी और जनता से उसका संबंध स्थापित नहीं हो पाता था।

उनके सामाजिक-राजनीतिक विचारों की विस्तार से जाँच करने से पहले उनका अखिल भारतीय स्तर पर स्थान निर्धारित करना आवश्यक है। कुछ हल्कों का ऐसा विचार है कि बंकिम सारे भारत के नहीं अपितु केवल बंगाल के संदर्भ में सोचते थे। यह विचार पूर्णतः सत्य नहीं है। यह सत्य है कि अपनी कुछ रचनाओं में उन्होंने केवल बंगाल का जिक्र किया है। यह भी सत्य है कि वह बंगाल के साहित्य, इतिहास और संस्कृति के पुनरुज्जीवन के लिए बहुत गम्भीरता से प्रयत्न कर रहे थे। पर यह कहना गलत है कि उनका दृष्टिकोण प्रांतीय था या भारतीय राष्ट्रवाद की बढ़ती हुई भावना से वह अछूते थे। उनकी रचनाओं में अक्सर अखिल भारतीय चेतना के दर्शन होते है और इस दृष्टि से वे रचनाएँ सारे

---

* भारती, आषाढ़ 1301 (वि. स.)

देश के लिए आकर्षक तथा उपयोगी हैं। उनकी कई कृतियों में अखिल भारतीय चेतना पूरी तरह स्पष्ट है। उनके निबन्ध 'भारत कलंक' (विविध प्रबंध-1) में इस संबंध मे उनके विचारो का सार विद्यमान है। इस निबंध में उन्होंने देश के पतन का कारण प्राचीन भारत में राष्ट्रवाद और राजनीतिक स्वतन्त्रता की विचारधारा का अभाव बताया है। उन्होंने भारतीयों मे राष्ट्र-निर्माण की भावना के अभाव के लिए खेद प्रकट किया है। उन्होंने लिखा कि भारत विभिन्न सम्प्रदायों, विभिन्न भाषाओ तथा विभिन्न धर्मों वाले बहुसंख्यक लोगों की भूमि है। उन्होंने इस पर खेद प्रकट किया कि इन सब मे एकता नही है। उनके विचार में राष्ट्रीयता और राष्ट्र-निर्माण की विचारधारा हमें अंग्रेजो से प्राप्त हुई और वे उनके ऐसे उपहार हैं, जिन्हें भारतीय जनता को स्वीकार करना चाहिए।

एक अन्य निबन्ध 'बंग दर्शनेर पत्र सूचना' मे उन्होंने भारत के विभिन्न जाति और भाषा समूहो के बीच विचारों और प्रयासों की एकता शीघ्रातिशीघ्र लाने पर बल दिया है। उस समय वह स्पष्टत: राष्ट्र-निर्माण के लिए अन्तर्प्रांतीय एकता की समस्या पर विचार कर रहे थे। उनकी दृष्टि मे इन विचारों को बंगाल की सीमा के परे समस्त भारत तक पहुँचाना अभीष्ट था। इस समय संस्कृत जैसी किसी सामान्य भाषा के अभाव मे यह विचार अंग्रेजी के माध्यम से ही देश भर मे पहुँच सकते हैं। इसीलिए उन्होंने अखिल भारतीय एकता स्थापित करने के लिए अंग्रेजी भाषा की भूमिका पर बल दिया। डा. एम. सी मुखर्जी को 1872 में लिखे गए अपने एक पत्र मे उन्होंने कहा, "जब तक बंगाली और पंजाबी एक दूसरे को नही समझ लेते और प्रभावित नही करते और फिर एक होकर अपना प्रभाव अंग्रेजो पर नही डालते, तब तक भारत की मुक्ति की कोई आशा नही है।"* यह उनके इस विचार का, कि अन्तर्प्रांतीय एकता का हमारे विदेशी शासकों पर कितना गहरा प्रभाव पड़ सकता है, एक उदाहरण मात्र है।

इतिहास का अध्ययन राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने का एक अत्यन्त प्रभावकारी माध्यम है। बंकिम ने इस पर खेद प्रकट किया कि भारत का कोई सही इतिहास अर्थात भारतीय दृष्टि से लिखा गया इतिहास नही है, ठीक वैसे ही जैसे बंगाल के सही इतिहास के अभाव के प्रति उन्होंने खेद व्यक्त किया था। प्राचीन और आधुनिक भारत की स्थितियों की विस्तृत तुलना करते हुए उन्होंने अनुभव

* बंकिम रचनावली शतवार्षिकी संस्करण, बंगीय साहित्य परिषद

किया कि आधुनिक स्थितियाँ अधिक लाभकारी है (भारतवर्षेर स्वाधीनता एवं पराधीनता)। वह अंग्रेजो की नीतियों और समस्त भारत पर उनके प्रभाव के प्रति पूरी तरह सचेत थे (प्राचीन भारतवर्षेर राजनीति)। 'धर्मतत्त्व' (अध्याय 24) मे गुरु चेतावनी देता है कि भारत को पश्चिम की आक्रामक देशभक्ति की नकल नही करनी चाहिए, बल्कि देशभक्ति और विश्वबधुत्व मे सतुलन रखना चाहिए। वह आगे कहते है—"यदि ऐसा हुआ तो आगे आने वाला भारत राष्ट्रो के समुदाय मे सब से अग्रणी स्थान पाने के योग्य हो जाएगा।" इन उदाहरणो और इसी तरह के अन्य उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि बकिम भारतीय एकता और राष्ट्रीयता के नवोदित उत्साह मे पूरी तरह पगे थे। सनसनी पैदा करने वाली राष्ट्रीय चेतना की लहर ने उनके समस्त व्यक्तित्व को प्रभावित किया था। उन्हे एक विदेशी प्रभु के द्वारा दिए गए लाभो को भोगते हुए अपने ही देश मे एक अस्थायी निवासी की तरह जीवनयापन करने से घृणा थी। वह राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय पुनर्जागरण के लिए व्यग्र थे, ताकि सारा भारत मिल कर एक हो सके। सीमित पैमाने पर और विशाल राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य मे वह बंगाल के पुनर्जागरण के सबंध मे भी सोच रहे थे। बगाल की सीमाओं मे उन्होने जन-शिक्षा के लिए मातृभाषा के अपनाए जाने के लिए बीडा उठा लिया।

बकिम की राजनैतिक विचारधारा मे तीन अलग-अलग प्रवृत्तियाँ थी—उदारतावाद, आमूल परिवर्तनवाद और नैतिकता का सचार। सम्भवत वह अपने जीवन दर्शन मे इन तीनो प्रवृत्तियो के सश्लेषण का प्रयास कर रहे थे, पर कभी-कभी कोई एक प्रवृत्ति दूसरी प्रवृत्तियो पर हावी हो जाती थी। उन्होने कुछ समय तक अग्रेजी राज्य को भारत के लिए उपयोगी माना। उनके इस कथन मे हमे उनके उदारवादी स्वरूप के दर्शन होते है। पाश्चात्य शिक्षा और विज्ञान तथा अंग्रेजी भाषा की प्रशसा मे मुखर उस युग को उदारवादी विचारधारा उनमे साफ झलकती है। पर धीरे-धीरे उनकी विचारधारा आमूल-चूल परिवर्तन के अधिकाधिक निकट आती गई और एक प्रकार से, कम से कम वैचारिक स्तर पर, वह उस प्रकार की परिवर्तनवादी विचारधारा के अग्रदूत बन गए, जो उस शताब्दी के अंतिम वर्षों मे भारतीय राजनीति पर छाई रही। अनुनय-विनय की राजनीति से उन्हें घृणा थी, जिसका वर्णन उनकी बहुत-सी कृतियो में मिलता है। गुलामो की तरह पाश्चात्य के अनुकरण के प्रति उनकी अरुचि,

लोक-शिक्षा और जनजागृति पर बल, अपनी भाषा और साहित्य के प्रति अगाध प्रेम, भारतीय संस्कृति और भारतीयता के लिए उनकी दलीलें—ये सब सामाजिक व्यवस्था और शासन प्रणाली के संबंध में उनके क्रांतिकारी दृष्टिकोण के सूचक थे। आगे चल कर धार्मिक नैतिकता उनकी दार्शनिक विचार-पद्धति की धुरी बन गई, पर उसमें उनकी सामाजिक, राजनीतिक विचार-पद्धति कमजोर नहीं पड़ी, बल्कि और सुदृढ़ तथा प्रतिष्ठित हुई।

जहाँ तक राजनीति का संबंध है, वह उन दिनों समाचार पत्रों या सभा मंचों के माध्यम से चलाए जाने वाले आंदोलनों से बहुत असंतुष्ट दिखाई पड़ते थे। जनसम्पर्क रहित होने के कारण वे आन्दोलन उनकी दृष्टि में एक तरह से बनावटी थे। वे आंदोलन अंग्रेजीदां उच्च वर्ग तक सीमित थे और आम जनता या अशिक्षित और अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ व्यक्तियों से उनका कोई संपर्क नहीं था। नगरों में पोषित और नगर केन्द्रित आन्दोलनों का ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली बहुसंख्यक जनता के जीवन पर कोई असर नहीं पड़ा था। ऐसा लगता है कि बंकिम बिना किसी रचनात्मक कार्यवाही के निरंतर राजनीतिक बातचीत या अनुनय-विनय को पसंद नहीं करते थे। उन्होंने अनुनय-विनय और सभाओं तथा कक्षों में प्रस्ताव पारित करने की राजनीति की, जिसका जनता से कोई संबंध नहीं था, खुली भर्त्सना की है। एक सयानी मधुमक्खी कमलाकांत को कुछ सीख देती है। मधुमक्खी भिनभिनाती है, मधु इकट्ठा करती है और जब आवश्यक हो डंक भी मारती है। पर इस देश में लोग केवल बकबकाते हैं, चिल्लाते हैं या अनावश्यक शब्दजाल का तानाबाना फैलाते हैं, डंक मारने की बात तो दूर रही वह कोई वास्तविक कार्य नहीं करते (कमलाकांतेर पत्र संख्या-3)। बंकिम आगे व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि वास्तविकता रहित राजनीति उपाधि-धारियों, चाटुकारों, धोखेबाजों, भिखारियों और सम्पादकों को मुबारक हो। (कमलाकांतेर पत्र संख्या-2)। एक अन्य व्यंग्य रचना में उन दिनों समाचार पत्रों में प्रकाशित आलोचनाओं का खाका खींचते हुए उन्होंने ऐसी आलोचनाओं को निरर्थक यांत्रिक प्रशासनिक वर्ग की निस्सार और निरर्थक आलोचना कहा है। (वर्ष समालोचन, लोक रहस्य)। बंकिम के उच्च-आदर्शवाद ने ही उन्हें तत्कालीन राजनीति और समाचारपत्रों की टिप्पणियों के प्रति असहनशील बना दिया था। उन्होंने कहा कि समाचारपत्रों में अक्सर छपने वाली प्रशासन संबंधी आलोचनाओं में नैतिक बल का अभाव रहता है। इसीलिए

कुछ अरसे तक यह धारणा बल पकड़ती गई कि बंकिम समाचारपत्रो की तथाकथित स्वतन्त्रता के हक मे नहीं है।

पर यह कहना कि बंकिम समाचारपत्रो की स्वतन्त्रता के शत्रु थे या प्रेस से घृणा करते थे सम्भवतः उनके प्रति अन्याय होगा। अपनी रचना 'लोकशिक्षा' में पश्चिम के देशो मे बडी सख्या में प्रसारित होने वाले समाचारपत्रों की उच्च शैक्षणिक पृष्ठभूमि की खुले रूप मे प्रशंसा करते हुए उन्होने अपने देश में इसकी कमी के प्रति दु ख प्रकट किया। यहाँ न केवल समाचारपत्रो की सख्या अत्यन्त सीमित है, बल्कि समाचारपत्र स्वय इधर-उधर की ज्यादा हाँकते है और उनसे शिक्षा बहुत कम मिलती है। उसी निबध में जब वह खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि देश की विभिन्न भाषाओ मे समाचारपत्र बहुत कम है और अंग्रेजी समाचारपत्र कुछ लोगों तक ही पहुँचते हैं, तो स्पष्टत. वह भारत मे देशी भाषाओ के समाचारपत्रों के विकास की आवश्यकता की ओर ध्यान दिलाना चाहते थे, क्योंकि इन्ही भाषाओं के माध्यम से जनता तक पहुँचा जा सकता है। जहाँ तक समाचारपत्रों के स्तर का सबंध है, वह चाहते थे कि समाचारपत्र जनता के लिए वस्तुतः शिक्षाप्रद हो।

एक सरकारी कर्मचारी होते हुए भी, बल्कि शायद इसीलिए बकिम प्रशासन के तत्कालीन रवैयो के कटु आलोचक थे। इस सबंध मे उनकी तीखी टिप्पणियाँ उनकी कई रचनाओं मे जहाँ-तहाँ बिखरी पडी है। सम्भवतः बंगाल मे ब्रिटिश प्रशासन पर उनके 'बागला शासनेर काल' से अधिक तीखा व्यंग्य नही हो सकता, जिसमें उस समय के जड और यान्त्रिक शासन का बहुत ही सजीव चित्रण किया गया है। पर इसमे उन्होंने लेफ्टिनेंट गवर्नर सर जार्ज कैम्पबैल की, इस जड़ता और यांत्रिकता से ऊपर उठने के प्रयास के लिए, प्रशंसा की है। 'मुचिराम गुड़ेर जीवन चरित' शीर्षक अपने व्यंग्यात्मक रेखाचित्र मे उन्होंने डिप्टी मजिस्ट्रेसी संस्थान, जिसके वह स्वयं भी सदस्य थे, के खोखलेपन का भंडाफोड़ किया है। इन दिनों प्रचलित न्यायिक शासन के संबंध में उन्होने निम्नलिखित साहसपूर्ण और कटु टिप्पणी की है, "न्यायालय और वेश्यालय एक समान है। बिना पैसे के *कोई इनमें से किसी मे प्रवेश नही पा सकता।"* (*बंगदेशेर कृषक-II*) *यहाँ* उनका अभिप्राय उन दिनो की महगी न्यायिक भ्रष्ट व्यवस्था से है। ऐसे गरीब लोग जो मुकदमो का भारी खर्च नही उठा सकते थे, स्वभावतः वे न्यायालयो मे नहीं जा सकते थे। लार्ड कार्नवालिस द्वारा किए गए 'परमानेन्ट सेटलमेन्ट' इस्तमरारी

बन्दोबस्त) के शिकार गरीब किसानो के प्रति गहरी सहानुभूति व्यक्त करने मे वह कभी नही हिचकिचाए। उनका कहना था कि यह बन्दोबस्त (परमानेन्ट-सेटलमेट) अग्रेजो के नाम पर स्थायी कलक है। (बगदेशेर कृषक-IV)। उनके विचार मे बन्दोबस्त सीधे-सीधे भूमि जोतने वालो के साथ होना चाहिए था न कि जमीदारो के साथ। यह एक ऐसा कथन था जिसकी अपेक्षा हम राज्य के किसी राजभक्त या नरमपथी उदारवादी से नही कर सकते थे।

बकिम ने रूसो, स्पेन्सर, बेथम, मिल और कोत जैसे महान विचारकों से बौद्धिक प्रशिक्षण प्राप्त किया था। इन विचारको का बंकिम के जीवन की विभिन्न अवधियों मे उन पर जो प्रभाव रहा, वह उनकी सामाजिक, राजनीतिक रचनाओं मे स्पष्ट परिलक्षित होता है। पर कोत का उन पर प्रभाव अधिक स्थायी रहा, सम्भवत: इसलिए कि वह प्रत्यक्षवादी दर्शन का अपनी राजनीतिक-नैतिक मान्यताओ के साथ अधिक आसानी से तालमेल बैठा सके।

रूसो के इस विश्वास के साथ कि समाज की रचना से पहले मनुष्य आदर्श अवस्था मे रहता था, बंकिम सहमत दिखाई पडते है। पर साथ ही वह यह भी सोचते हैं कि मानवीय सम्बन्धों मे समन्वय स्थापित करने और 'धर्म' का पालन करने के लिए समाज की रचना आवश्यक थी। पर समाज की रचना के साथ उसके साथियो के रूप मे गरीबी और गुलामी का आना अनिवार्य था। सामाजिक सगठन के साथ-साथ राजा या राज्य द्वारा जनता के, बहुसख्यको द्वारा अल्पसंख्यको के, शोषण जैसी बुराइयाँ भी पैदा हो जाती है। इन राजनीतिक परिणामोको झेलना ही पड़ता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति शासक नही हो सकता और राजा या अन्य शासक अभिकरण जैसा किसी न किसी शासन अधिकारी का होना आवश्यक है। समाज सरकार का गठन करता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विचार से सामान्यत: अभिभूत, लगता है प्रसिद्ध चिन्तक मिल की भाँति बकिम धर्म के पालन के लिए समाज को अनिवार्य मानते थे। समाज की रचना से उत्पन्न बुराइयो का मुकाबला करने के लिए पश्चिम मे समाजवाद और साम्यवाद के सिद्धान्तों का पालन हो रहा है। पर बकिम के विचार मे सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध लड़ने का सबसे अच्छा तरीका है, अच्छे विचारो के प्रचार द्वारा प्रबुद्ध जनमत तैयार करना। 'बाहुबल और वाग्बल' शीर्षक अपने निबन्ध मे उन्होंने इन समस्याओं पर विचार किया है। उन्होंने यह दिखाया है कि किस प्रकार परिवर्तन

लाने के लिए 'वाग्बल' कही अधिक प्रभावशाली है। स्पष्टत बंकिम के मन में लोकतान्त्रिक समाज का विचार था, जिसमे सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए उत्तम शब्दों और उत्तम विचारो को माध्यम बनाया जाता है। ओगुस्त कोंत के विचारो की तरह ही उपयोगितावादी विचार सम्भवत बंकिम के युवा मस्तिष्क पर छा चुके थे और यद्यपि उन्होने वाद को चलकर अपने प्रारम्भिक उपयोगितावादी विचारो से छुटकारा प्राप्त कर लिया, पर वह उससे पूरी तरह मुक्त कभी नही हो सके। यह इस बात से स्पष्ट होता है जब कृष्ण के उपदेश की व्याख्या करते हुए वह उसे उपयोगितावादी रंग में पेश करते हुए कहते है कि जिससे प्राणियो की रक्षा होती है, वही धर्म है। वह यह भी मान लेते है कि स्पेंसर, बेंथम या मिल को भी 'धर्म' की इस परिभाषा पर आपत्ति न होती।* समाज के गठन के कारण उत्पन्न होने वाली बुराइयो के प्रति सचेत होते हुए भी बंकिम समाज को सर्वाधिक महत्त्व देते थे, क्योकि वह समाज को मनुष्यो का ऐसा सगठन मानते थे जो उनके पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करता है। अपनी पुस्तक 'धर्म तत्त्व' (अध्याय 24) मे वह हरबर्ट स्पेंसर को उद्धृत करते है—"एक साध्य के रूप मे सामाजिक संघटन का जीवन उसकी इकाइयों के जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण है।" वह कोत द्वारा समाज या यूं कहे मानवता को दिए गए महत्त्व के प्रति भी सचेत थे। कोत ने कहा था, "सच्चा मानवीय दृष्टिकोण वैयक्तिक नही सामाजिक है।" 'धर्मतत्त्व' मे बंकिम ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन इस प्रकार किया है कि मानव सम्बन्धो को समन्वित करने के लिए सामाजिक सगठन आवश्यक है, अत. समाज की रक्षा अन्य सब वस्तुओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यहाँ वह समाज का अर्थ लगाते है देश, जिसकी रक्षा, उनकी दृष्टि में, मनुष्य का ईश्वर भक्ति के बाद सबसे ऊँचा धर्म है। गुरु कहता है, "देश की रक्षा स्वयं अपनी रक्षा से भी बड़ा धर्म है। इसीलिए हजारों लोगों ने अपना वलिदान देकर देश की रक्षा की है।" यहाँ बंकिम दिव्य और मानवीय मे, आध्यात्मिकता की भावना और देशभक्ति की उत्कट इच्छा में, समन्वय स्थापित करना चाहते थे और इसमें उन्हें मिल और कोत के दर्शनो से बडी सहायता मिली। 'धर्मतत्त्व' के अन्तिम अध्याय में गुरु यह कामना करते हुए कि उसके शिष्य की ईश्वर मे दृढ आस्था हो, वह कहता है—"यह न भूलना कि देश-प्रेम सर्वोच्च गुण है।" इस प्रकार देशभक्ति को उन्होंने अपनी धार्मिक नैतिक पद्धति का अभिन्न अंग बना दिया।

---

* कृष्णचरित्र, भाग-4, अध्याय-7

चूंकि बंकिम ने सामाजिक संगठन को इतना अधिक महत्त्व दिया, इसीलिए उसके साथ-साथ उन्होंने कहा कि लोक-शिक्षा सामाजिक-राजनीतिक उत्थान का सबसे प्रभावकारी माध्यम है। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त उच्च वर्ग और जनता के बीच सहानुभूति के अभाव पर गहरा खेद प्रकट किया। 'ए पापुलर लिट्रेचर फार बंगाल' नामक अपनी रचना में उन्होंने कहा, "और हम बंगाली अक्सर यह भूल जाते हैं कि बंगला भाषा के माध्यम से ही जनता को आन्दोलित किया जा सकता है। हम अंग्रेजी में उपदेश देते हैं, अंग्रेजी में भाषण करते हैं, अंग्रेजी में लिखते हैं और यह बात बिल्कुल भूल जाते हैं कि विशाल जनता तक, *जिसे आन्दोलित करके ही समाज सुधार की किसी महान योजना को सफल* बनाया जा सकता है, हमारे ये भाषण और उपदेश नहीं पहुँचते।" बंकिम के अनुसार उस समय सबसे खेदजनक बात यह थी कि शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच सहानुभूति का पूरी तरह अभाव था, जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा पाने वालों और शिक्षा के प्रकाश से वंचित लोगों के बीच गहरी खाई बन गई थी। राष्ट्र की प्रगति और समृद्धि के लिए इस निर्मम खाई को पाटना आवश्यक था। इसलिए जनता की शिक्षा अनिवार्य आवश्यकता थी। शिक्षा के संबंध में, एक वर्ग का यह विचार था कि लोक-शिक्षा अनिवार्य नहीं है, क्योंकि ऊपर के कुछ शिक्षित लोगों द्वारा ज्ञान और सूचना का प्रसार जनता तक हो जाएगा। बंकिम इस प्रकार की शिक्षा के प्रसारण सिद्धान्त के कतई विरुद्ध थे, क्योंकि इसका अर्थ था धनियों और सुविधासम्पन्न लोगों का शिक्षा पर एकाधिकार। उनका कहना था कि एक किसान के बेटे को भी शिक्षा पाने का उतना ही अधिकार है, जितना एक धनी के बेटे को और यह सरकारी नीति गलत है कि राज्य के कोष से निर्धन वर्ग की शिक्षा की अपेक्षा उच्च वर्ग की शिक्षा पर अधिक व्यय किया जाता है। इसीलिए उन्होंने जनता की शिक्षा को वित्तीय सहायता देने की लेफ्टिनेंट गवर्नर सर जार्ज कैम्पबेल की नीति का समर्थन किया, न कि उनके पूर्वाधिकारी सर विलियम ग्रे की जनता की शिक्षा की कीमत पर उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन देने की नीति का।* पर शिक्षा से बंकिम का अभिप्राय केवल पुस्तकीय शिक्षा-पढ़ने, लिखने और गणित शिक्षा-से नहीं था। उनके अनुसार शिक्षा का मूल है संस्कृति। इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि किस प्रकार पुराने जमाने की कुछ अनपढ़ दादियाँ आज के तथाकथित अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों से अधिक सुसंस्कृत थीं। व्यक्ति

* सर विलियम ग्रे और सर जार्ज कैम्पबेल : बंकिम्ज वर्क्स, साहित्य संसद लोक शिक्षा

की विभिन्न क्षमताओ के सतुलित विकास और उसके चारित्रिक गुणो को उद्‌घाटित करने मे शिक्षा को समर्थ होना चाहिए। प्राचीनकाल मे रामायण, महाभारत आदि ग्रथों और धर्मग्रथो की व्याख्या और पठन-पाठन जीवनचर्या का अपरिहार्य अग था। वस्तुत यह सच्ची शिक्षा प्रदान करने का एक प्रभावकारी तरीका था। पर पाश्चात्य शिक्षा उन सास्कृतिक मूल्यो को विकसित करने मे असफल लग रही है।

सामाजिक समस्याओ के सम्बन्ध मे बकिम एक ऐसे विचारक के रूप मे सामने आते है, जो सावधानी से आगे बढ़ने के हक मे थे। वह जिस युग मे थे, वह महान सामाजिक आन्दोलनो और महान वाद-विवादों का युग था। वह सुधार लाने के समर्थक तो थे, पर उनका उत्साह कई कारणो–व्यावहारिक कारणों-से सावधानी से आगे बढ़ने का था। उन्होने तीन निर्णायक कारणो की चर्चा की है। पहला कारण है धर्म, जिसे वह हिन्दुओ का शाश्वत धर्म कहते हैं, जो बहुत उदार है और उन सारी बातो की स्वीकृति देता है, जो मानव के लिए हितकारी हैं। दूसरा कारण हैं धार्मिक ग्रथ, जिन्हें वह धर्मशास्त्र कहते है, जिनमे सामाजिक मामलो मे 'क्या करना चाहिए' और 'क्या नहीं' सम्बन्धी नियम वर्णित है और उनके साथ बहुत-सी ऐसी घिसीपिटी निषेधाज्ञाएँ जुड़ी हुई हैं, जो कही-कही धर्म की मूल भावना से टकराती है। अन्तिम कारण है लोकाचार या रीति-रिवाज, जिन सबका उल्लेख धर्मशास्त्रों में भी नही है, पर शताब्दियों से वे धर्म के साथ जुड़ गए हैं। बकिम के अनुसार वह धर्म, जिसका काम मानव प्राणियो की रक्षा है, सर्वोपरि है। इसके विपरीत जो कुछ है, वह उन्हें स्वीकार्य नही है चाहे वह धर्मशास्त्र ही क्यों न हो। सामाजिक मामलो मे वह देखते हैं कि दुर्भाग्यवश जनता धर्म की सच्ची भावना या धर्मशास्त्रों का पालन करने के बजाय लोकाचार का पालन अधिक करती है। उनके विचार मे देश मे सामाजिक प्रगति के मार्ग की वास्तविक बाधा यही है। ऐसी स्थिति मे समाज सुधार के समर्थन मे शास्त्रो का हवाला देना कोई अर्थ नही रखता, क्योकि लोग किसी भी हालत मे लोकाचार के विरुद्ध नही जाएँगे, चाहे वह कितना ही अयुक्तिसंगत या बाधक क्यों न हो। इसी प्रकार प्रगतिशील कानून भी सहायक नहीं हो सकते, क्योकि लोकाचार के साथ परम्परागत दृढ लगाव के कारण लोग नए कानूनों को स्वीकार नहीं करेंगे। बकिम के अनुसार इसका मात्र उपाय है लोक-शिक्षा और ज्ञान का प्रसार। ऐसा करके ही लोगों के मन मे पंगुता लाने वाली सामाजिक

कुरीतियों और अंधविश्वासों का मूल हटाया जा सकता है और उनकी प्रगति के मार्ग की बाधा दूर की जा सकती है।

एक बार यह विवाद उठा कि क्या हिन्दुओं को समुद्र यात्रा करने की अनुमति है? उस समय तक वह वर्जित था। विनयकृष्ण देव को लिखे एक पत्र में बंकिम ने यह कह कर कि चूँकि समुद्र यात्रा भारतीयों के लिए हितकारी है और धर्म की सच्ची भावना के विपरीत नहीं है, हिन्दुओं द्वारा समुद्र यात्रा किए जाने का पूरा समर्थन किया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बंकिम कितने उदारचेता और साहसी थे।*

'समय' में बंकिम महिलाओं के हित के महान समर्थक के रूप में सामने आते हैं। प्रसिद्ध समाजसुधारक पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर पहले ही महिलाओं के हित के लिए लड़ रहे थे। उन्होंने विधवा विवाह कानून पास करवा दिया था, स्त्री-शिक्षा की दृढ़ बुनियाद रख दी थी और बहुपत्नीप्रथा के विरुद्ध निरन्तर आन्दोलन चला रहे थे और वह यह सब भयंकर सामाजिक विरोध और कटु वाद-विवाद का मुकाबला करते हुए कर रहे थे। बंकिम इन क्रांतिकारी प्रवृत्तियों से अछूते कैसे रहते? इसके अतिरिक्त युवावस्था में मिल का शिष्य होने के कारण वह स्वतन्त्रता के, जिसमें महिला मुक्ति भी सम्मिलित थी, कट्टर समर्थक थे। उन्होंने स्त्रियों को हीन समझने और पुरुषों की अधीनता में रखने की प्रवृत्ति का कड़ा विरोध किया। उन्होंने बड़ी निष्ठापूर्वक उन सामाजिक प्रतिबन्धों और वर्जनाओं का विश्लेषण किया, जो महिलाओं पर लागू थी, जैसे शिक्षा सुविधाएँ उपलब्ध न कराना, घर से बाहर निकलने की स्वतन्त्रता का अभाव, विरासत का अधिकार न होना, वैधव्य का जीवन जीने की विवशता, बहुपत्नीवादी पतियों के कारण होने वाली पीड़ा तथा अन्य विभिन्न निर्योग्यताएँ। बंकिम के अनुसार ये सब बातें समानता के कानून के विरुद्ध थीं, इसलिए उन्होंने महिलाओं को निम्न सामाजिक दर्जे से ऊपर उठाने के लिए स्त्री शिक्षा का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि शिक्षा के माध्यम से ही वे अपने पाँव पर खड़ा होने योग्य बन सकती है और घर से बाहर जाकर अपनी आजीविका कमा सकती हैं। बंकिम ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि राजनीति, समाज और धर्म, यहाँ तक कि जानवरों पर होने वाली क्रूरताओं की रोकथाम के लिए भी बहुत-सी संस्थाएँ

* बंकिम रचनावली साहित्य संसद

और संघ है, पर महिलाओं के हितो को बढावा देने के लिए कोई संस्था नही है।

पर जब इस प्रकार जोशीली बातों से उतरकर कुछ विशेष प्रश्नो के समाधान की बात आती है, तो बंकिम का यह उत्साह, कुछ हद तक ही सही, उतना उग्र नहीं रहता। सम्भवत परम्परागत आदर्शवाद और प्रचलित विवाह-संस्था के प्रति भावनात्मक लगाव के कारण उनका अकुठ युक्तिवाद असमंजस मे पड़ जाता है। वह कहते हैं कि विधवा विवाह न तो अच्छा है न बुरा, क्योंकि एक विधवा जो अपने जीवन काल मे अपने पति से सच्चा प्रेम करती रही हो, कभी दुबारा विवाह नही करना चाहेगी। पर सिद्धात के रूप मे वह इस बात से पूरी तरह सहमत थे कि विधवा को भी विवाह का उतना ही अधिकार है जितना कि विधुर को। उनका सिद्धात यह रहा कि सामाजिक मामलों मे व्यक्ति को तब तक अपनी इच्छानुसार चलने की छूट होनी चाहिए, जब तक उसका दूसरो के हितो के साथ टकराव न हो।*

बंकिम श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा बहुपत्नीप्रथा के विरुद्ध चलाए गए आदोलन का समर्थन करते थे।** बंकिम यह स्वीकार करते हैं कि बहु विवाह प्रथा एक सामाजिक बुराई है और इस सबध मे सामान्य सहमति है कि इसका उन्मूलन होना चाहिए। पर वह धर्मशास्त्रों का हवाला देकर इस कुप्रथा का उन्मूलन करने के विद्यासागर के प्रयासो से पूरी तरह सहमत नही है। यहां भी लोकाचार या रीति-रिवाज बाधक सिद्ध हो रहे थे। सत्य भी है कि बहु विवाह के विरुद्ध धर्मशास्त्रों के प्रमाण ढूंढ़ने से, जैसा कि विद्यासागर कर रहे थे, कोई लाभ होने वाला नही था।

इस प्रकार सामाजिक मामलों मे बंकिम विचारों से तो उदार थे, पर सतर्कतापूर्वक फूंक-फूंक कर कदम उठाना चाहते थे। वह यह अनुभव करते थे कि लोकाचार समाज मे गहरी जड़ें जमा चुका है। इसलिए इसके विरुद्ध न तो शास्त्रीय प्रमाण कारगर हो सकते है और न कानून ही, जैसा कि बाद में सिद्ध भी हुआ। विद्यासागर द्वारा चलाए गए विधवा विवाह आदोलन के प्रति लोगों का उत्साह धीरे-धीरे कम हो गया। बंकिम के अनुसार शिक्षा के माध्यम से ही

* साम्य, बंकिम रचनावली साहित्य संसद

** बहु विवाह

जनता के सामाजिक और नैतिक स्तर में सुधार लाया जा सकता है। वह कहते है, "मात्र शिक्षा ही सभी प्रकार की सामाजिक बुराइयों की औषध है।"*

बंकिम ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का बड़ा आदर करते थे। पर इन दोनों के दृष्टिकोण और विधियों में भारी अंतर था। विद्यासागर ने सामाजिक धर्मान्धता के दुर्गों पर त्रिमुखी आक्रमण किया। एक ओर उन्होंने लोक-शिक्षा को प्रोत्साहन दिया, तो दूसरी ओर धर्मशास्त्रों का हवाला देकर जनमत को बदलने का प्रयास किया। तीसरे, उन्होंने प्रगतिशील कानूनों का निर्माण कराने में शासक वर्ग की सहायता ली। रूढ़िवादी सामाजिक-रीति रिवाजों में कितना बल था और उन्हें दूर करना कितना कठिन था, इसके प्रति विद्यासागर जितने सचेत थे उतना शायद ही कोई दूसरा होगा। सम्भवतः यही कारण था कि उन्होंने समस्या पर त्रिमुखी आक्रमण किया। पर बंकिम शिक्षा को प्राथमिकता देते थे। वह सोचते थे कि जब समाज में शिक्षा का प्रसार हो जाएगा, तो लोग स्वयमेव कुप्रथाओं को त्याग देंगे और उनका सुधार हो जाएगा। इन दो व्यक्तित्वों ने देश की दो विभिन्न मनःस्थितियों को उजागर किया। विद्यासागर सुधार के प्रारंभिक जोश के प्रतिनिधि थे, तो बंकिम उसके बाद में आने वाले संयम के।

वास्तव में देखा जाए तो सुधार का प्रारंभिक जोश ठंडा पड़ने लगा था। विद्यासागर के विधवा विवाह आंदोलन ने 50-60 के वर्षों में जो महान उत्साह पैदा किया था, वह 60-70 और 70-80 के वर्षों में कम होने लगा था। इसके अतिरिक्त बहु विवाह विरोधी आंदोलन में भी अपेक्षित जोश पैदा नहीं हुआ।

देश की परिवर्तित मनःस्थिति अब स्पष्ट थी। एक नया सिद्धांत बल पकड़ रहा था—वह था शिक्षा, न कि कानून। सत्य तो यह है कि विद्यासागर का विधवा विवाह आंदोलन भी अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी अत्यन्त प्रगतिशील उपाय को भी कानून के द्वारा तब तक लागू नहीं किया जा सकता, जब तक कि जनता में उसका इतना अधिक प्रचार न हो कि वह परम्परागत रीति-रिवाजों की जड़ों को हिला दे और जन-मानस को अपने साथ लेकर चल सके। हिन्दू धर्म बल पकड़ रहा था। लोग यह अनुभव करने लगे थे कि इसके लिए क्षमा-याचना मनोवृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। एक अन्य विचार पनप रहा था कि राजनीतिक स्वतन्त्रता को समाज-सुधार के मुकाबले

* समय

निश्चय ही प्राथमिकता देनी चाहिए । समाज सुधार के लिए अभी प्रतीक्षा की जा सकती है, पर राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए और प्रतीक्षा नहीं की जा सकती । बाद में कांग्रेस अधिवेशनों के साथ ही समाज सुधार सम्मेलन भी होते रहे, पर बल कांग्रेस अधिवेशनों पर ही रहा ।

महाराष्ट्र में यह नई मनोदशा 80-90 के वर्षो में, विशेषकर तिलक के माध्यम से परिलक्षित हुई । समाज सुधार सम्बन्धी कानून के विरोध में उन्होंने एक नया तर्क प्रस्तुत किया । उनका कहना था कि ऐसे मामलों मे विदेशी शासकों के हस्तक्षेप से भारतीयों से उनकी सामाजिक-आर्थिक स्वतन्त्रता छिन जाएगी । इस तर्क में बल था । 1889 मे जब पंडिता रमाबाई ने शारदा सदन की स्थापना की, तो तिलक ने उनकी तीव्र आलोचना की, क्योंकि वह और उनके ढंग से सोचने वाले अन्य व्यक्ति यह सोच रहे थे, कि रमाबाई हिन्दू विधवाओं का धर्म परिवर्तन कराके उन्हें ईसाई बना रही हैं । 1890 में सरकार द्वारा प्रस्तावित 'एज ऑफ कन्सेन्ट बिल' संबधी वाद-विवाद मे तिलक ने, बंकिम के स्वर मे स्वर मिलाकर कहा कि "इस बुराई (बाल-विवाह) के उन्मूलन का समुचित उपाय शिक्षा है न कि विधि-निर्माण ।"

बंकिम के सामाजिक-राजनीतिक विचार उनकी उदारवादी पाश्चात्य शिक्षा और स्वयं उनकी उदारवृत्ति तथा मानवीय सहानुभूति की उपज थे । निश्चय ही उनका सरकारी पद उनकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति में बाधक था । पर इस कारण उन्होंने सामाजिक-राजनीतिक विषयो पर अपने विचार व्यक्त करने मे कभी संकोच नही किया । उन्होने अंग्रेजी-शासन के कई पहलुओ, यूरोपियों के पक्ष मे न्यायिक पक्षपात और भारतीय साधनो के अपव्यय की, कटु आलोचना की थी । उन्होंने अंग्रेजों द्वारा लागू की गई भूमि पट्टा की अन्यायपूर्ण पद्धति के कारण पीड़ित किसानो के हित का जोरदार समर्थन करने में कभी एक क्षण के लिए भी संकोच नहीं किया । अपनी मातृभूमि के प्रति उत्कट प्रेम को अभिव्यक्त करने मे वह कभी नही हिचकिचाए । सामाजिक समस्याओ के संबंध में 'समय' मे उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण स्पष्ट है । हमें यह बताया जाता है कि इस पुस्तक का बाद मे उनकी अपनी दृष्टि में अंशतः मूल्य कम हो गया था, इससे यह पता चलता है कि परिपक्वता के साथ उनमें संयम की भावना पैदा हो गई थी । पर उनकी बाद की रचनाओ मे 'कृष्णचरित' और 'धर्मतत्व' में उनके प्रगतिशील

सामाजिक विचारों का लेखा-जोखा मिलता है। उनकी सामाजिक प्रगतिशीलता पुनरुज्जीवित हिन्दू-धर्म या परिष्कृत हिन्दू-धर्म में उनकी गहरी आस्था के खूंटे से बंधी थी। हिन्दू-धर्म की उनकी धारणा भी, जैसा कि हम अगले अध्याय में देखेंगे, पाश्चात्य शिक्षा के माध्यम से अर्जित बुद्धिपरकता के कारण बहुत उदार हो गई थी। सामाजिक विचारधारा में यह उनका सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान था। हिन्दू-धर्म के विशुद्ध रूप में पुनरुज्जीवन की उत्कट आकांक्षा रखते हुए भी बंकिम यह सोचते थे कि धर्मशास्त्रों में जो कुछ लिखा है, वह आवश्यक रूप से हिन्दू-धर्म का अंग या मूल नहीं है और इसीलिए यह भी आवश्यक नहीं है कि वह समाज के लिए हितकारी हो।* एक प्रकार से यह अन्ध बुद्धिविरोधी रीति-रिवाजों और व्यवस्थाओं तथा अंधविश्वासों के बंधन से मस्तिष्क की मुक्ति के लिए आह्वान था।

* बहुविवाह

12. धर्म का सार

बंकिम की सभी विचारधाराओं, राजनीतिक हो या दार्शनिक मे समान रूप से धार्मिक-नैतिक तत्त्व विद्यमान हैं और वह उनके सम्पूर्ण मानसिक क्षितिज को रग और रूप प्रदान करता है।

जैसा कि हम पहले देख चुके है, बंकिम का विकास नव-हिन्दू पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि मे हुआ। हिन्दू-धर्म विदेशी आलोचकों के हाथों काफी अवमूल्यित हो चुका था। भारतीय इतिहास लेखन के लिए आधार तैयार करते हुए बहुत से पाश्चात्य प्राच्यविद्या-विशारदो ने देश की सास्कृतिक विरासत का गलत अर्थ लगाया और अक्सर उसे गलत ढग से प्रस्तुत किया। ईसाई मिशनरियों ने हिन्दू-धर्म और दर्शन के मूल-तत्त्वों को समझने की चेष्टा नही की और वे केवल उसके प्रचलित अंधविश्वास संबंधी पहलुओं को प्रकाश मे लाते रहे, ताकि प्रबुद्ध लोगो मे उसकी प्रतिष्ठा गिरे। हिन्दू-धर्म के विरुद्ध यह आन्दोलन काफी अर्से से निरन्तर चलता रहा। राममोहन राय उन पहले व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने इस चुनौती को स्वीकार किया। पर पिछली शताब्दी के अंतिम तिहाई मे अधिकाधिक सख्या मे विचारशील भारतीय आगे आए और उन्होंने अपने प्राचीन इतिहास और धर्म-शास्त्रों के पुनरुद्धार द्वारा अपनी धार्मिक-सास्कृतिक विरासत की बड़े उत्साह के साथ पैरवी की। इस प्रकार प्राचीन आस्था की रक्षा के लिए जोरदार प्रयत्न किए गए। प्राचीन सस्कृति और आस्था के पुनरुज्जीवन मे आर्य समाज, रामकृष्ण परमहंस और थियोसोफिकल आन्दोलन ने जो भूमिका अदा की, उसके ब्यौरे मे जाना यहाँ आवश्यक नहीं है। कुछ अन्य संगठन भी आगे आए, पर उनमें से कुछ संभवतः संकीर्ण साम्प्रदायिक थे। हिन्दू-धर्म के अवमूल्यन के विरुद्ध प्रतिक्रिया इतनी तीव्र हुई कि कई स्थानों पर हिन्दुत्व या भारतीय के नाम पर हर वस्तु का, जिसमे तर्कहीन सामाजिक रीति-रिवाज भी सम्मिलित थे, गुणगान किया गया। पाश्चात्य संस्कृति पर भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए बड़े जोशखरोश से प्रयत्न किए गए। कहीं-कहीं इस उत्साह मे नस्ली चेतना के तत्त्व भी प्रवेश कर गए।

यह नवीन उत्साह कई दिशाओं में बँट गया। उसके एक अतिवादी रूप का प्रतिनिधित्व प्रसिद्ध विद्वान पण्डित शशधर तर्कचूड़ामणि कर रहे थे, जिनकी हिन्दू-धर्म में इतनी प्रगाढ़ आस्था थी कि उन्होंने पौराणिक कर्मकाण्ड और अनुष्ठानों की वैज्ञानिक लगने वाली शब्दावली में व्याख्या प्रस्तुत की।

बंकिम ने हिन्दू-धर्म का अत्यन्त तर्कसंगत या यूँ कहें सार्वभौमिक रूप प्रस्तुत किया। वह तर्कचूड़ामणि के अनुष्ठानवाद और ब्राह्म समाज के आमूल परिवर्तनवाद के अतिवादी सिद्धान्तों से बचकर चले और उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाया। यही नहीं, हिन्दू-धर्म की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत करते समय उन्होंने खोज और अन्वेषण की तर्कसंगत पाश्चात्य पद्धति अपनाई। इतिहासकार न होते हुए भी वह भारतीय इतिहासलेखन और पुरातत्त्व की नींव रखने वालों में से एक थे। बचपन में पाश्चात्य स्कूलों में शिक्षा पाने से उनके मन की सारी संकीर्णता दूर हो गई थी, अतः उन्होंने हिन्दू-धर्म को बाह्याडम्बरों, रूढ़ियों, अंधविश्वासों और तर्कहीन रीति-रिवाजों से मुक्त कराने के लिए प्रयत्न आरम्भ किया। उनका लक्ष्य हिन्दू-धर्म के सार को ग्रहण करके उसे विशुद्ध एकेश्वरवाद की पीठ पर स्थापित करना था। हिन्दू-धर्म को उसके गिर्द चिपके घटिया तत्वों से मुक्त कर उसके विशुद्ध रूप को प्रस्तुत करने की उनकी महत्त्वाकांक्षा उनकी अनेक कृतियों में झलकती-चमकती है। धर्म का लक्ष्य है मनुष्य का सर्वांगीण विकास। जो कुछ भी मनुष्य के सर्वांगीण विकास में सहायक हो, वह धर्म है। इस मान्यता को लेकर वह कहते है कि जो इसके विपरीत है वह 'धर्म' नहीं हो सकता, चाहे उसका प्रतिपादन सर्वोच्च धर्मग्रन्थों में ही क्यों न हो।* हिन्दू धर्म में अंतर्निहित बहुदेववाद की विदेशी अक्सर निन्दा करते है। बंकिम का कहना है कि हिन्दू-धर्म में प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की पूजा का अर्थ स्वयं भगवान की पूजा है, क्योंकि वे सब उसी के रूप है। हिन्दू देवालयों के देवता मूलतः एक ही ईश्वर का रूप है, क्योंकि ईश्वर एक ही है, उसके अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं है, आप चाहे उसे किसी भी नाम से पुकारें।** भगवान के अवतार की आवश्यकता उसके दिव्य-स्वरूप को सहज ग्राह्य रूप में प्रस्तुत करने के लिए है। पर ज्यों-ज्यों संस्कृति का विकास होता है, बहुदेववाद की लोकप्रियता कम होती जाती है। बंकिम मूल

* देवतत्त्व और हिन्दू धर्म

** देवतत्त्व और हिन्दू धर्म

रूप में एकेश्वरवादी थे। पर वह वेदान्त के अमूर्त ब्रह्म को नहीं मानते थे, जिसकी पूजा न की जा सके। वह कृष्ण जैसे एक वैयक्तिक ईश्वर में आस्थावान थे, जो उन विभिन्न गुणों को धारण करके अवतरित हो सके, जिनकी साधना द्वारा सिद्धि ही बंकिम के अनुसार 'धर्म' है।

सम्भवतः स्वतंत्र विचारक बंकिम को पाश्चात्य युक्तिवाद से प्राच्य आस्था-परकता का मेल बैठाने के लिए मानसिक संघर्ष की अवधि से गुजरना पड़ा होगा। पर अन्ततः हिन्दू-धर्म की पुनर्व्याख्या करके वह समन्वय स्थापित करने में सफल हुए। स्पष्टतः मिल, स्पेंसर और डार्विन जैसे विचारकों के मनुष्य और सृष्टि सम्बन्धी विचारों का बंकिम द्वारा प्रस्तुत हिन्दू-धर्म और दर्शन की व्याख्या पर काफी प्रभाव पड़ा होगा। पर सबसे अधिक गहरा प्रभाव ऑगुस्त कोंत का पड़ा, जिसकी प्रत्यक्षवादी राजनीति और धर्म अनजाने ही बंकिम के घरेलू, सामाजिक, राजनीतिक विचारों या संस्थाओं के बारे में वक्तव्यों में छाया हुआ है।* यही नहीं, इन्हीं दार्शनिकों, विशेष रूप से कोंत का उनकी हिन्दू-धर्म और दर्शन की पुनर्व्याख्या पर भी उतना ही गहरा प्रभाव पड़ा है। इसी का यह परिणाम है कि बंकिम का हिन्दुत्व संकीर्णता और साम्प्रदायिकता से, जो अक्सर धार्मिक पुनर्जागरण के अति-उत्साही चरण को दूषित कर देती हैं, कहीं ऊपर उठ गया है। उन्होंने हिन्दू-धर्म के सार्वभौमिक तत्त्वों को प्रस्तुत किया और उनकी स्वीकृति पर जोर दिया। वह हिन्दुत्व के स्वर में बोलते हैं, पर उनके भाषण से उद्भूत भावना सार्वभौमिक है। निस्सदेह वह यह सिद्ध करना चाहते हैं कि हिन्दू-धर्म में वे तत्त्व हैं, जो किसी भी धर्म में अस्वीकार्य नहीं हो सकते। वह कहते हैं कि चित्तशुद्धि में तीन बातें आती हैं, ईश्वर के प्रति प्रेम, विश्व के प्रति प्रेम और मन की शांति, जो सभी धर्मों का, जिसमें ईसाई धर्म, इस्लाम और बौद्ध धर्म शामिल हैं, मूल तत्व हैं, पर हिन्दू धर्म में ये तत्व अत्यधिक प्रमुख है।** वे कहते हैं कि धर्मशास्त्रों में जो कुछ कहा गया है, वह आवश्यक रूप में हिन्दू धर्म नहीं है। हिन्दू-धर्म बहुत उदार है।*** उनके अनुसार जो संकीर्णता उसमें घुस गई है, वह ऐतिहासिक कारणों से उद्भूत है। शास्त्रों के अस्तित्व में आने से कहीं पहले से हिन्दू-धर्म चालू है। इसमें वे तत्त्व सम्मिलित हैं जो

* न्यू एसेज इन क्रिटिसिज्म : बी. एन. सहाय

** चित्तशुद्धि, विविध प्रबन्ध, भाग-2

*** विनयकृष्ण देव के नाम पत्र, बंकिम्स वर्क्स, साहित्य संसद

सार्वभौमिक हैं और इसीलिए वह इसे शाश्वत धर्म कहते हैं। यदि यह सत्य है तो अपने मूल रूप में यह सार्वकालिक है और समस्त मानवता के लिए है। वस्तुतः 'धर्मतत्व' में गुरु धर्म को उस समय साम्प्रदायिकता के धरातल से ऊपर उठा देता है, जब वह यह कहता है कि धर्म का मूल समस्त मानवता-ईसाइयों, मुसलमानों, हिन्दुओं और बौद्धों-के लिए सत्य है।

अस्वीकृति और बहिष्कार की प्रक्रिया अपना कर हिन्दू-धर्म को बंकिम ऐसे मूल रूप में प्रस्तुत करते हैं कि उसमें साम्प्रदायिक या संकीर्ण जैसा कुछ नहीं रह जाता। हिन्दू बहुदेववाद की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं कि यह सभी प्राचीन धर्मों का एक पहलू रहा है, जिसका लक्ष्य ईश्वर के, जो मूल रूप में एक है, बाह्य, दृश्य और ठोस रूप की खोज है। वह मूर्तिपूजा को हिन्दू-धर्म का अपरिहार्य अंग नहीं मानते, बल्कि मनुष्य के भावात्मक तत्व को वास्तविक रूप में देखने की स्वाभाविक इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र मानते हैं। यहाँ तक कि हिन्दू कर्म-काण्ड भी उन्हें ज्यों का त्यों पसंद नहीं है। वह उसमें से अधिकांश को सत्य से दूर, केवल 'स्वाग',* जिसमें केवल दिखावा होता है, मानकर उसका तिरस्कार करते हैं। वह कहते है कि जातिवाद भारत के पतन के लिए उत्तरदायी है। धर्मशास्त्रों में जो कुछ लिखा है उसे वह आँख मूंद कर सच्चा धर्म मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वस्तुतः वह प्रचलित हिन्दू धर्म के, जिसके साथ शताब्दियों के दौरान अनेक रीति-रिवाज और रूढ़ियाँ चिपक गई हैं, विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र उनके प्रति उच्च प्रशस्ति अर्पित करते हुए कहते हैं कि उन्होंने रूढ़िवाद और तर्कहीनता के तत्कालीन वातावरण में युगों पुराने अंधविश्वासों का खण्डन करने का अद्वितीय साहस दिखाया और इस प्रकार हिन्दू-धर्म के सार के पुनरन्वेषण का कार्य शुरू किया। हिन्दुत्व को पुनरुज्जीवित करने के उनके प्रयत्नों पर आधुनिक विचारधारा की छाप स्पष्ट है, जैसा कि आर० सी० दत्त ने कहा है, "उन्होंने विस्वरता में स्वरैक्य उत्पन्न करने, अनुदारता के वातावरण में उदारता लाने, हिन्दुत्व के विशुद्ध ज्ञान द्वारा अज्ञान के अंधकार को दूर करने, पतनशील समाज को प्रगति का मार्ग दिखाने और निर्जीव बाह्याडम्बरों के स्थान पर प्राचीन आस्था की जीवनदायिनी शक्ति उत्पन्न करने का प्रयास किया।"***

---

* लेटर्स इन द हिस्टरी कन्ट्रोवर्सी-3, बंकिम्ज वर्क्स सेन्टेनरी एडीशन]

** बंगीय साहित्य परिषद

*** साहित्य परिषद् पत्रिका, श्रावण 1301, बंगला संवत

कृष्ण के चरित्र और उपदेश की उनके द्वारा की गई पुनर्व्याख्या इसका ज्वलन्त उदाहरण है। वह स्वयं विश्वास करते थे कि कृष्ण ईश्वर के अवतार थे। पर ईश्वर भला स्वयं मानव के रूप मे अवतार क्यों लेते हैं? बंकिम का उत्तर था कि ऐसा करके वह सत्य का संस्थापन करने के लिए मानवता के सामने कुछ निश्चित आदर्श प्रस्तुत करना चाहते है। असीम ईश्वर ससीम कृष्ण के रूप में अवतार लेते है, पर बंकिम का मुख्यत: संबंध उनके ससीम रूप अर्थात मानव के रूप मे कृष्ण से है। समय के साथ कृष्ण चरित्र से जुडी अलौकिकताओं को उनसे अलग करके वह कृष्ण को एक ऐसे ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप मे स्थापित करते है, जिनमें उच्चतम मानवीय गुणो का अत्यन्त सुदर समन्वय है और जो मानवीय पूर्णता की सर्वोच्च अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं। बंकिम के कृष्ण में साम्प्रदायिक या अजीब कुछ नही है। उनका उपदेश सार्वभौमिक है, सार्वकालिक है और बिना किसी अपवाद के समस्त मानवता के लिए हितकारी है।

बंकिम के विचार मे हिन्दू धर्म के तीन मूल आधार है—सिद्धांत, कर्मकाण्ड और नीति। बंकिम का हिन्दू धर्म आध्यात्मिक दन्तकटाकटी या अनुष्ठानो का धर्म नही, बल्कि नैतिकता का धर्म है। वस्तुत: 'धर्मतत्व' मे वह इसे ऐसे सिद्धान्तो को प्रस्तुत करते है, *जिनका व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के मानवीय* व्यवहार मे अनुसरण आवश्यक है। वह कहते है कि हिन्दुत्व एक सम्पूर्ण धर्म है और मानव जीवन का कोई भी पक्ष इसकी परिधि से बाहर नहीं रहता।

बंकिम की विचारधारा मे पाश्चात्य दार्शनिको का किस सीमा तक प्रभाव है, इसका अध्ययन रुचिकर होगा। कोत और उपयोगितावादियो ने उनको सबसे अधिक प्रभावित किया। कोंत मानव ज्ञान की प्रगति ब्रह्मज्ञान या अतिप्राकृतिकता के सोपान से तत्व मीमांसा या अमूर्तिकरण के सोपान से होकर प्रत्यक्ष अनुभव के सोपान तक मानते है। वह आध्यात्मिक तत्वचिंतन की ओर ध्यान नही देते, क्योकि उनकी दृष्टि में ज्ञान-प्राप्ति का साधन केवल मात्र प्रत्यक्ष अनुभव है। वह यह मानते है कि मनुष्य मे उच्चतर सत्ता की पूजा की जन्मजात प्रवृत्ति होती है, पर वह मानव पूजा के स्थान पर ईश्वर-पूजा करने लगता है। कोंत के प्रत्यक्षवादी दर्शन मे केवल उस बात पर बल है, जिसे वह 'सामाजिक-नैतिकता' कहता है, क्योकि मानवतावाद समाज से अगली सीढी है। कोंत के अनुसार ईश्वर की धारणा का अंतिम रूप, जो उसका स्थान ले सकता है, मानववाद है क्योकि ईश्वर भूत काल,

वर्तमान और भविष्य द्वारा निर्मित अखण्ड समुच्चय है।* कोंत का प्रत्यक्ष संसार सम्पूर्ण मानवता के प्रति परोपकारी कृत्यों** और करुणा की भावनाओं के सम्पूर्ण विस्तार को प्रोत्साहित करता है और व्यक्तिगत सुख को उस पर अवलम्बित मानता है।

उपयोगितावाद एक नैतिक पद्धति है, जो अधिक से अधिक व्यक्तियों के अधिक से अधिक सुख के सिद्धान्त पर आधारित है। इसका मूल है इन्द्रिय सुखवाद। यद्यपि यह सुखवाद सार्वभौमिक है, इसका नैतिक मानदण्ड है जन-सामान्य का सुख। पर प्रश्न यह है कि कोई व्यक्ति समुदाय के सुख की वृद्धि के लिए प्रयत्न भला क्यों करे? मिल का कहना है कि ऐसा इसलिए है कि व्यक्ति का सुख दूसरों के सुख से जुड़ा हुआ है। पर बेंथम यह सोचता है कि सामान्य सुख के लिए व्यक्तिगत प्रसन्नता या सुख का त्याग करने की प्रक्रिया कानून द्वारा ही लागू की जा सकती है। उपयोगितावाद के सिद्धांत की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। पर एक बात स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध जनसामान्य के कल्याण, मानव जीवन, मानव की गतिविधियों और मानव की समृद्धि से है, इसलिए राजनीति के क्षेत्र में इसके अच्छे परिणाम सामने आए हैं।

प्रत्यक्षवाद और उपयोगितावाद के पूरक प्रभावों के अन्तर्गत बंकिम अध्यात्मज्ञान के अवास्तविकतावाद और तत्व-मीमासा की बाल की खाल से अलग एक ऐसे धर्म की धारणा प्रस्तुत करते हैं, जिसके माध्यम से मानव के सम्पूर्ण मानवीय गुणों का विकास भी हो, साथ ही वह एक साथ आध्यात्मिक और सामाजिक परिवेशों से जुड़ा रहे। जहाँ तक व्यक्ति का संबंध है, उसकी मानवीयता, उसका सुख, उसका धर्म, सब कुछ उसकी क्षमताओं के ऐसे संतुलित विकास में निहित है, जिससे उसके मन में ईश्वर भक्ति की भावना उत्पन्न हो। कोंत के प्रत्यक्षवादी धर्म में भी लक्ष्य पूर्ण एकीकरण प्राप्त करना है, और यह तभी सम्भव है जब उसकी प्रकृति के सभी घटक-नैतिक और शारीरिक-एक समान उद्देश्य की ओर अभिगमन करें। कोंत के सिद्धान्त में अभिगमन का केन्द्र मानवता है। बंकिम के सिद्धांत में ईश्वर और मानवता दोनों हैं, क्योंकि उनके अनुसार मानवता यदि ईश्वर का ही रूप न हो, तो वह व्यर्थ है। बंकिम सोचते हैं कि

---

* दि पाजिटिव फिलासफी, मार्टिन्यू

** लेटर्स इन हिस्ट्री कन्ट्रोवर्सी-3, बंकिमस वर्क्स, सेन्टेनरी एडीशन, बंगीय साहित्य परिषद्

हिन्दुत्व का नैतिक भाग ठोस रूप में प्रत्यक्षवादी दर्शन है। वह कहते हैं कि यदि 19वीं शताब्दी के यूरोपीय दार्शनिकों में से गंभीरतम दार्शनिक अर्थात कोंत भारत से परिचित होते, तो यह प्रत्यक्षवाद के अपने स्वप्न को हजारों साल पहले अद्वितीय सफलतापूर्वक पल्लवित पुष्पित पाते। इसका कारण यह है कि हिन्दुत्व ईश्वर को मानवता से अलग करके नहीं, बल्कि मानवता में और उसके माध्यम से प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

यहाँ उपयोगितावाद के प्रति बंकिम के गहरे बौद्धिक झुकाव का स्रोत हमें मिल जाता है। यदि, जैसा कि बंकिम कहते हैं, हिन्दू धर्म प्राणी मात्र में ईश्वर को देखता है तो यह कहा जा सकता है कि उपयोगितावाद का सार उसमें अन्तर्निहित है। इसलिए मानव धर्म का एक महत्त्वपूर्ण भाग है प्राणीमात्र से प्रेम और उनके कल्याण के लिए प्रयत्न करना। बिना इसके ईश्वर से प्रेम भी असंभव है, इसीलिए 'धर्मतत्व' में गुरु कहता है, "मनुष्य सामाजिक ढाँचे के बाहर धर्म का पालन नहीं कर सकता।"* और "सब वस्तुओं से बढ़कर है देश के प्रति प्रेम।"** यही नहीं, बंकिम हिन्दुत्व की अपनी धारणा में उपयोगितावाद का मूल तत्त्व तब सम्मिलित कर लेते हैं, जब कृष्ण के व्यक्तित्व और उनके उपदेश की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं कि जो मानव की रक्षा या पालन करता है वह धर्म है।*** हमें इस सिद्धांत की व्याख्या बार-बार उनकी कई रचनाओं, विशेषकर 'कृष्ण चरित्र' और 'धर्मतत्व में मिलती है, जहाँ उन्होंने मनुष्य के सामाजिक संबंधों को उतना ही महत्त्वपूर्ण बताया है जितना उसकी आध्यात्मिक आकांक्षाओं को।

बंकिम की हिन्दू धर्म की व्याख्या और हिन्दू दर्शन का सार संक्षेप में इस प्रकार है। उनके विचार में हिन्दू धर्म मनुष्य को यह आदेश देता है कि वह अपनी सभी क्षमताओं का संतुलित विकास करे, ताकि अन्ततः उसके मन में ईश्वर के प्रति भक्ति का भाव पैदा हो। इसके अन्तर्गत मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि उसको ईश्वर के अस्तित्व और सब प्राणियों में उसके अदृश्य अस्तित्व में दृढ़ आस्था हो और वह समझे कि उन सबसे प्रेम करना उसका धार्मिक एवं नैतिक दायित्व है। इस प्रकार व्यक्ति मानवता की सम्पूर्ण संरचना में सामाजिक परिवेश

---

* धर्म-तत्व, अध्याय-24

** धर्म-तत्व, अध्याय-28

*** कृष्णचरित्र, भाग 6, अध्याय-6

से जुड़ा हुआ है। बंकिम का मनुष्य मूलतः एक सामाजिक प्राणी है, न कि अध्यात्मवादी संसारत्यागी। वह न तो सन्यासी या मानवता से दूर एकान्त में मुक्ति ढूंढने वाला पलायनवादी है। उसका सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को, जिनमें देश के प्रति उत्तरदायित्व भी सम्मिलित है, पूरा करें ताकि वह अपने आध्यात्मिक उत्तरदायित्वों को पूरा कर सके।

बंकिम का दर्शन प्रत्यक्षवाद और उपयोगितावाद का मिश्रण है, जिसमें कुछ उन्होंने अपनी तरफ से जोड़ा है और वह है ईश्वर, वैयक्तिक ईश्वर के अस्तित्व में उनकी गहरी आस्था। यहाँ आकर उनका महान यूरोपीय दार्शनिकों में अन्तर पड़ जाता है। वह उनसे वास्तविक नैतिकता और विज्ञान की पूजा का विचार लेते है, पर उसमें ईश्वर में अपनी जन्मजात आस्था को, जो एक भारतीय और एक निष्ठावान हिन्दू होने के नाते उन्हें प्राचीन परम्परा और संस्कृति में विरासत में मिली है, जोड़ देते है। वह ईश्वर में आस्था को किसी भी पूर्ण धर्म के लिए मूलभूत मानते हैं, और ईश्वर के प्रति भक्ति को मनुष्य के जीवन-दर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हैं। वे कहते है, "मैं वैयक्तिक ईश्वर की पूजा को धर्म में सर्वोच्च सिद्धि मानता हूं। वैयक्तिक ईश्वर ही ईश्वर के सर्वोच्च और अत्यंत पूर्ण आदर्श सत्य और सुंदर को चरितार्थ करता है।"* कोंत की दृष्टि में मानवता ईश्वर का अंतिम विकल्प है। बंकिम की दृष्टि में मानवता ईश्वर का रूप है और मानवता के प्रति प्रेम ईश्वर-प्राप्ति का साधन है। जहाँ तक सुख का, जैसा कि उपयोगितावादियों ने समझा है, सम्बन्ध है, बंकिम भी मानवहित और सुख में आस्थावान है। पर वह केवल भौतिक सुख की दृष्टि से नहीं सोचते। उनका सुख सर्वतोमुखी सुख है जो अस्थायी नहीं, बल्कि सभी मानवीय क्षमताओं-आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक-के समुचित अभ्यास से उत्पन्न स्थायी सुख है। 'धर्मतत्त्व' में गुरु उपयोगितावाद को महत्त्वपूर्ण किन्तु अपूर्ण दर्शन कहता है।** इसमें भक्ति और प्रेम जोड़ देने पर वह पूर्ण दार्शनिक पद्धति बन जाएगी। अपने दर्शन के प्रत्यक्षवाद को उसकी विशुद्ध ऐहिकता से मुक्त करने और उपयोगितावाद को उसके इन्द्रिय सुखवाद पर जोर से मुक्त करने के लिए बंकिम उसमें भक्ति और प्रेम के दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व सम्मिलित कर देते हैं। दूसरे

* लेटर्स आन हिन्दूइज्म, 3

** धर्म-तत्त्व, अध्याय 22

शब्दों में वह विज्ञान और युक्तिवाद पर आधारित इन दोनों दर्शनों में आध्यात्मिक तत्त्व, जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति की विशेषता है, जोड़ देते हैं।

बंकिम को राष्ट्रवाद का मसीहा कहा गया है। पर उनकी दृष्टि में राष्ट्रवाद रोमांटिक कल्पना विलास या राजनीतिक उफान तक सीमित वस्तु नहीं है। उनके राष्ट्रवाद संबंधी विचार उनकी दार्शनिक या नैतिक पद्धति में गहरी जड़ जमाए हुए हैं। मौलिक रूप से वह विशाल मानवता के प्रेमी हैं। वह नि:स्वार्थ प्रेम की तुलना धर्म से करते हैं—दोनों एक ही बिन्दु की ओर अभिगमन करते हैं। जब प्रेम समस्त विश्व को अपने दायरे में समेट लेता है, तो वह 'धर्म' बन जाता है और 'धर्म' स्वयं तब तक अपूर्ण रहता है जब तक वह समस्त विश्व के प्रति प्रेम के रूप में रूपान्तरित नहीं होता।* यह विचार उन्होंने कुछ अंशों में प्रत्यक्षवादियों और कुछ अंशों में हिन्दू-धर्म के शान्तिवादी सार्वभौमवाद से लिया। वह प्रेम की निरन्तर फैलते हुए एक दायरे के रूप में 'कल्पना करते हैं।' इसका आरम्भ स्वयं अपने से होना चाहिए, बाद में इसका विस्तार सगे-संबंधियों, फिर समाज या देश और अन्ततः समस्त विश्व तक होना चाहिए। पर सुदृढ़ अन्तर्राष्ट्रीयता या सार्वभौमवाद की स्थापना के लिए व्यक्ति को सबसे पहले अपने देश के प्रति निष्ठावान होना चाहिए, जिसकी सेवा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और जिसका स्थान ईश्वर की पूजा के बाद दूसरा है। अपने देश की रक्षा ईश्वर-प्रदत्त उत्तरदायित्व है, क्योंकि अपने समाज या देश के ढांचे के बाहर कोई 'धर्म' का पालन नहीं कर सकता। इसलिए वह सुदृढ़ राष्ट्रवाद को सार्वभौमवाद का आधार मानते हैं। वह यह जानते हैं कि विश्व में ऐसे सत्ताप्रेमी और आक्रामक राष्ट्रों की कमी नहीं है, जो अपने सीमित स्वार्थों के लिए दूसरों की भूमि को हथियाना चाहते हैं। यदि ऐसी शक्तियों को मनमानी करते दिया गया, तो समस्त मानवता संकट में पड़ जाएगी और नैतिक शासन का अन्त हो जाएगा। इसलिए यदि ऐसी अनीतिपरायण शक्तियाँ आक्रमण करती हैं, तो व्यक्ति को उनका मुकाबला अवश्य करना चाहिए। उस स्थिति में अपने देश की रक्षा व्यक्ति का सर्वोपरि दायित्व हो जाता है।** बंकिम का राष्ट्रवाद नैतिक मूल्यों पर आधारित है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि सत्ता-लोलुप तथा आक्रामक शक्तियों के सामने घुटने टेक दिए जाएँ।

---

* भालोबासा अत्याचार, विविध प्रबन्ध-1

** धर्म-तत्त्व, अध्याय-24

बंकिम ऐसी शक्तियों के प्रति पूरी तरह सचेत थे, यह 'धर्मतत्व' में गुरु द्वारा यूरोपीय देशभक्ति के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है। गुरु यूरोपीय देशभक्ति की कड़ी आलोचना करता है, क्योंकि उसके विचार में, उसमें दूसरों की कीमत पर अपने देश को समृद्ध बनाने का भाव है, वह इसे पाप करार देते हैं। बंकिम की देशभक्ति के दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं, प्रेम और 'समदर्शन' या समदृष्टि, अर्थात सबके साथ समान व्यवहार। वह आत्मसंतुष्ट देशभक्ति की कल्पना करते हैं, जिसमें देश का कल्याण निहित है, पर दूसरों की कीमत पर नहीं। उन्होंने शान्तिवादी सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का प्रतिपादन किया है। यह एक आदर्शवादी विचार तो है, पर इसमें विश्व राजनीति का रूप निर्धारित करने वाली कुटिल शक्तियों और विरोधी शक्तियों की लगभग उपेक्षा कर दी गई है। युद्ध और विनाश, जिनसे उन्हें गहरी घृणा है, लाने वाली स्वार्थी शक्तियों के प्रति सचेत, वह सुदृढ़, शान्तिवादी और स्वस्थ राष्ट्रवाद के निर्माण के लिए नैतिक मूल्यों की तुरन्त स्थापना पर बल देते हैं। वह कहते हैं कि हिन्दू नैतिकता भी नीति की एक पद्धति है। इसलिए वह इस पद्धति में अन्तर्निहित नैतिक मूल्यों पर बल देते हैं, क्योंकि केवल इन्हीं के आधार पर स्वस्थ राष्ट्रवाद का निर्माण हो सकता है।

बंकिम को एक हिन्दू पुनरुज्जीवनवादी या हिन्दू राष्ट्रवादी कहा गया है। उनके सम्बन्ध में लिखने वाले अधिकांश विदेशियों ने ऐसा कहा है। उदाहरण के लिए श्री टी. डब्ल्यू. क्लार्क कहता है, "जिस राष्ट्रवाद का पूर्वाभास बंकिम की रचनाओं में मिलता है, वह हिन्दू राष्ट्रवाद था।* विदेशियों ने ही क्यों भारतीय लेखक और बुद्धिजीवी भी उन्हें हिन्दू पुनरुज्जीवनवादी के रूप में ही याद करने के अभ्यस्त है। क्या वह धार्मिक पुनर्जागरणवादी थे? एक हिन्दू पुनरुज्जीवनवादी या हिन्दू पुनरुज्जीवन के नेता थे? बंकिम संबंधी इस प्रचलित धारणा की निष्पक्ष समीक्षा अभीष्ट है।

पुनरुज्जीवन का अर्थ है अतीत की ओर लौटना। इस दृष्टि से पुनरुज्जीवन का आरम्भ राजा राममोहनराय से हुआ, जिन्होंने अपने समस्त पाश्चात्य प्रशिक्षण के बावजूद हिन्दुत्व की सच्ची भावना को पुनर्स्थापित या पुनर्जागृत करने के लिए प्रयत्न किया। हिन्दुत्व की सच्ची भावना को पुनरुज्जीवित करने की आकांक्षा भारतीय पुनरुज्जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग रही है और विभिन्न भाषाओं में

---

* हिस्टोरियन्स आफ इण्डिया, पाकिस्तान एण्ड सीलोन : सी. एच. फिलिप्स द्वारा सम्पादित

यह सभी समाज-सुधारकों में विद्यमान थी। दूसरे शब्दों में पुनरुज्जीवन और समाज-सुधार का कार्य साथ-साथ चला। जैसा कि पहले बताया गया, पुनरुज्जीवन के पहले चरण में झुकाव पाश्चात्य की ओर था और कहीं-कहीं इसकी अति भी हुई। पुनरुज्जीवन के दूसरे चरण से संबंधित बंकिम का हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता में प्रगाढ़ विश्वास था और वह चाहते थे कि उसके मूल तत्त्वों का देशवासियों के सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मार्गदर्शक के रूप में पुनरुज्जीवन हो। यदि यही पुनरुज्जीवन का स्वरूप है, तो बंकिम निश्चय ही पुनरुज्जीवनवादी थे। जैसा कि पहले देख चुके हैं बंकिम न तो साम्प्रदायिकतावादी थे और न सुधार-विरोधी। वास्तविकता यह है कि बंकिम का हिन्दुत्व उदार, सार्वभौमिक और बाह्याडम्बरों तथा अनावश्यक कर्मकाण्ड से मुक्त है तथा उसमें हिन्दू धर्म का सार ग्रहण किया गया है। हिन्दू धर्म की पुनर्व्याख्या करते हुए वह अपने देशवासियों के सामने 'भूसी से मुक्त अन्न' रखते हैं।* ये पुनरुज्जीवनवादी विचारधारा के चिह्न नहीं हैं, और यदि हैं भी तो कितनी भी सीमित दृष्टि से क्यों न देखें, यह पुनरुज्जीवनवाद नहीं है।

कई बार अतीत की दुहाई देने का अर्थ होता है वर्तमान और भविष्य से पीठ दिखा कर भागना। बहुत से मामलों में वर्तमान की चुनौतियों से बचने का सहज उपाय पुनरुज्जीवनवाद होता है। पर बंकिम न तो पलायनवादी थे और न वास्तविकता का परित्याग करने वाले। वह अतीत से प्राप्त अपने विचारों का समसामयिक समाज के साथ तालमेल बिठाना कभी नहीं भूलते। उन्होंने तत्कालीन वास्तविकताओं की कभी उपेक्षा नहीं की, और न कभी भविष्य की ओर देखने में संकोच किया। वस्तुतः भारत के गौरवमय अतीत को पुनर्जीवित करने के उनके प्रयासों में तत्कालीन नैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के प्रति उनकी चेतना स्पष्ट परिलक्षित होती है। वह पाश्चात्य बुद्धिवाद की धारा में गहराई तक उतरे और जीवन के अंतिम क्षणों तक उसके प्रभाव में रहना स्वीकार किया, यह उनके विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात थी। आध्यात्मिक अतिप्राकृतिकता या धर्म दन्तकथावादी का जोरदार खण्डन, व्यावहारिक धर्म और व्यावहारिक नैतिकता की उनकी तर्कसंगत रूपरेखा, वैज्ञानिक भौतिकवाद, (बिना आध्यात्मिक आधार के नहीं) का समर्थन—इन सब से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह समसामयिक चेतना से पूरी तरह जुड़े हुए थे। इन सब के अतिरिक्त

* लेटर्स इन हिस्टरी कंट्रोवर्सी, बंकिम्स वर्क्स, सेन्टेनरी एडीशन, बंग साहित्य परिषद।

उनकी राष्ट्रवाद की उत्कट भावना ने, प्राचीन भारत मे जिसके अभाव पर वह बार-बार खेद प्रकट करते है, उनको एक ऐसे अत्याधुनिक विचारक के रूप मे स्थापित कर दिया, जो देशभक्ति की महान भावना के विस्फोट द्वारा देश को पुनरुज्जीवित करना चाहते थे। जब भी वह हिन्दू धर्म या नैतिकता पर विचार करते है, तो वह यह बताना नही भूलते कि एक हिन्दू का आध्यात्मिक और भौतिक जीवन एक दूसरे के पूरक के रूप मे परस्पर सम्बद्ध होना चाहिए, ताकि वह एक पूर्ण मानव बन सके। दूसरे शब्दो मे उन्होंने हिन्दू धर्म और नैतिकता का उपयोग गौरवमय अतीत को पुन सिहासन पर बैठाकर चंवर डुलाने के लिए नही किया, बल्कि उसकी इस प्रकार पुनर्व्याख्या की जिससे देश की सामाजिक और राजनीतिक विचारधारा आगे बढे, यानी उसे आगे ले जाने के लिए किया, न कि पीछे ढकेलने के लिए। यदि यह पुनरुज्जीवनवाद है तो निश्चय ही यह बहुत परिष्कृत पुनरुज्जीवन है।

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि पुनरुज्जीवन की हवा पहले ही फैल चुकी थी और कभी-कभी तो यह बहुत उग्र रूप से चलती थी, पर पुनरुज्जीवन आदोलन का बगाल मे पूरी तेजी से लगभग 1870 मे आरम्भ हुआ। बकिम ने इस भावना को ग्रहण किया और अपनी रचनाओ के माध्यम से, जिनका समसामयिक विचारधारा पर गहरा प्रभाव पडता था, इस भावना को समाज तक पहुँचाया, पर जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उन्होंने हिन्दू धर्म को एक संतुलित, युक्ति-सगत और परिष्कृत रूप मे प्रस्तुत किया। उन्होंने तर्क की आवाज को सुधार के नारे या अधविश्वास के समक्ष डूबने नही दिया। डा. ताराचन्द कहते हैं, उनका हिन्दुत्व समस्त मानवता के लिए है और उनका उद्देश्य स्वतन्त्र दृष्टि-कोण का विकास, पश्चिमी विचारधारा के प्रभुत्व को दूर करना और जनता से उस भाषा मे बात करना है जिसे वह समझती है।* यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि बकिम की हिन्दू-धर्म की व्याख्या आर्यसमाज, थियोसोफिकल सोसाइटी और रामकृष्ण आन्दोलन के दार्शनिक सिद्धान्तों से बिलकुल भिन्न है। यह उस रूढ़िवादी और साम्प्रदायिक विचारधारा से भी बिलकुल भिन्न है, जो 1870 के बाद से समाज के कुछ वर्गों मे दिखाई पडने लगी थी।

* हिस्टरी आफ फ्रीडम मूवमेन्ट, खण्ड 2

13. क्रांतिकारी सन्देश

समसामयिक साहित्य से यह पता चलता है कि बंकिम को अपनी कृतियों के अंग्रेजी अनुवाद का विचार पसन्द नहीं था। उन दिनों के एक प्रसिद्ध साहित्यकार सुरेश समाजपति का कथन है कि बंकिम को यह पसन्द नहीं था कि उनकी पुस्तकों का अंग्रेजी में अनुवाद हो।* इस संबंध में बंकिम के अपने प्रयास 'विष वृक्ष' के कुछ भाग के अनुवाद, जो बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर की पत्नी लेडी ईलियट को भेंट करने के लिए किया गया और 'देवी चौधरानी' के अंग्रेजी अनुवाद, जिसका आज कुछ ही भाग मुद्रित अवस्था में उपलब्ध है, तक सीमित थे।**

पर चाहे उन्हें अपनी कृतियों का अनुवाद पसंद था या नहीं, उनके उपन्यासों में से कई एक का उनके जीवन काल और निस्संदेह उनकी मृत्यु के बाद भी अंग्रेजी में अनुवाद हुआ। उदाहरण के लिए 1876-77 में नेशनल मैगजीन, कलकत्ता में जी० के० घोष ने 'कपालकुण्डला' का, 1880 में जी० जी० मुखर्जी ने 'दुर्गेशनन्दिनी' का, 1884 में मरियम नाईट ने 'विष वृक्ष' का, जिसकी भूमिका एडविन आर्नल्ड, (लंदन) ने लिखी, 1895 में मरियम नाईट ने 'कृष्णकान्तेर विल' का, 1885 में एच० ए० डी० फिलिप्स (लंदन) ने 'कपालकुण्डला' का अनुवाद किया। धीरे-धीरे उनकी अधिकाधिक कृतियों का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ। उनकी गहरी देशभक्तिपूर्ण कृति 'आनन्दमठ' का एन० सी० सेनगुप्ता ने अंग्रेजी में 1906 में अनुवाद किया, जब बंगभंग आन्दोलन पूरे जोरों पर था और बाद में इसका अनुवाद घोष बन्धुओं—श्रीअरविन्द और बारीन्द्रकुमार (क्रान्तिनेता) ने किया। बंकिम के कुछ उपन्यासों का अनुवाद जर्मन, स्वीडिश और रूसी भाषाओं में भी हुआ। उनकी कृतियों को इंग्लैंड में लोकप्रियता दिलाने के लिए मरियम नाईट ने बहुत प्रयत्न किया। बंकिम अंग्रेजी के साहित्यिक क्षेत्रों में सुपरिचित थे, इसका पता 'पंच' में 'विष वृक्ष'*** संबंधी एक रोचक काव्यात्मक वर्णन, विदेशी

---

* सेकालेर स्मृति नारायण, माघ 1321 (बि. स.)

** बंकिम्स वर्क्स सेन्टेनरी एडीशन, बंगीय साहित्य परिषद

*** लंडनेर पचे बंकिमचन्द्र, कमल सरकार, आनन्द बाजार पत्रिका, नवम्बर 8, 1964

समालोचकों द्वारा उनकी प्रशंसा और एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में उनको दिए गए महत्त्व से चलता है। यद्यपि, जैसा कि एण्डरसन ने कहा है, उनकी कृतियों का अनुवाद करना आसान नहीं था, विशेषकर इसलिए कि उनकी भाषा संस्कृत-निष्ठ है,* तो भी अनुवादों का विदेशी साहित्यिक क्षेत्रों में अच्छा स्वागत हुआ।

यहाँ महत्त्व की बात यह नहीं है कि उन्हें विदेशों में मान्यता मिली या नहीं मिली। बल्कि इसके विपरीत यह है कि उनकी कृतियों के अंग्रेजी अनुवादों के माध्यम से सारा देश उनकी साहित्यिक रचनाओं और विचारों से अवगत हुआ।

अंग्रेजी ही अकेली भाषा नहीं थी, जिसके माध्यम से बंकिम की कृतियाँ और विचार देश भर में पहुँचे। यह वस्तुतः बड़े आश्चर्य की बात है कि उन दिनों जब साहित्यिक संचार का न तो प्रचलन था और न वह आसान ही था, तब विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवादों के माध्यम से उनकी कृतियाँ सारे देश में लोकप्रिय हो रही थीं। बंगला लेखकों में सबसे अधिक अनुवाद जिनके हुए उन्हीं में वह हैं। उनकी कृतियों का लगभग सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। यह उनकी अखिल भारतीय लोकप्रियता का सूचक है। उनकी कुछ कृतियों के एक ही भाषा में एक से अधिक अनुवाद हुए हैं। कलकत्ता की नेशनल लाइब्रेरी द्वारा तैयार की गई ग्रंथ-सूची के अनुसार 'आनन्दमठ' के हिन्दी में अलग-अलग सात अनुवाद और 'देवी चौधरानी' के छः अनुवाद हुए हैं। इसी प्रकार दुर्गेशनन्दिनी का भी सबसे अधिक हिन्दी में, सात बार अनुवाद हुआ है। इनके अतिरिक्त 'धर्मतत्व', 'कृष्ण चरित्र' और 'कमलाकान्तेर दप्तर' का भी हिन्दी में अनुवाद हुआ है। इसी प्रकार मराठी, गुजराती, तमिल और तेलुगु में भी बंकिम की कृतियों के बहुत से अनुवाद हुए हैं। उसी ग्रंथसूची के अनुसार किसी भी भारतीय भाषा में बंकिम की किसी कृति का सर्वप्रथम अनुवाद सम्भवतः 1876 में लखनऊ के के० कृष्ण द्वारा 'दुर्गेशनन्दिनी' का उर्दू अनुवाद था। 1876 और 1900 के बीच अर्थात कुछ सीमा तक उनके जीवन काल में, उनके कई उपन्यासों, विशेषकर देशभक्तिपूर्ण उपन्यासों जैसे 'दुर्गेशनन्दिनी', 'आनन्दमठ', 'देवी चौधरानी' और 'राजसिंह' का हिन्दी, मराठी, उर्दू, तेलुगु, कन्नड़ आदि प्रमुख भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका था। यहाँ तक कि बहुत पहले 1885 में 'दुर्गेशनन्दिनी' का कन्नड़ में अनुवाद छपा था और 1883 में 'धर्मतत्व' पहली बार

* ह्वाई आई ट्रान्सलेटेड इन्दिरा ऐण्ड अदर स्टोरीज, माडर्न रिव्यू जनवरी, 1919

हिन्दी मे प्रकाशित हुआ था। वर्तमान शताब्दी के पहले दशक में उनकी अधिकांश कृतियों का प्रमुख भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका था। इस प्रकार एक ओर अंग्रेजी के माध्यम से, जो उस समय सम्पर्क भाषा थी और दूसरी ओर विशेष रूप से भारतीय भाषाओं के अनुवादों के माध्यम से देश भर के लोगों तक उनकी कला और तकनीक, उनके विचारों और विशेषकर मन को छूनेवाला उनका देश-भक्ति का संदेश पहुंचा। वंकिम की लोकप्रियता आधुनिक कथा-साहित्य के पूर्णतया परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में भी लगता है ज्यो की त्यो बनी हुई है। सम्भवत उनकी कृतियो के अनुवादो का काम जारी है, उनमे से कुछ एक का अनुवाद हिन्दी मे 1963 और 65 के बीच भी हुआ है। इस प्रकार प्रान्तीय धरातल से उठकर उन्होंने अखिल भारतीय प्रसिद्धि प्राप्त की और न केवल साहित्य के क्षेत्र मे बल्कि विचार के क्षेत्र में भी अपनी गहरी छाप छोड़ी।

आधुनिक भारत के निर्माताओ में बकिम की गणना का दावा मुख्यत: उनकी कृतियों के माध्यम से प्रसारित राष्ट्रवाद के संदेश पर आधारित है। अपने ऐतिहासिक और अर्द्ध-ऐतिहासिक उपन्यासो और 'कमलाकान्तेर दप्तर' जैसी अन्य कृदियो के माध्यम से उन्होने भावना के क्षेत्र में देशभक्ति की लहर दौड़ा दी। इतिहास से यह पता चलता है कि अक्सर महान राजनीतिक क्रांति से पहले महान साहित्यिक पुनरुज्जीवन होता है। साहित्य मे रोमांटिक आदर्शवाद को देशभक्ति की भावना या राजनीतिक उथल-पुथल या स्वतंत्रता सग्राम के लिए सामान्यतः एक शक्तिशाली कारण माना गया है। ऐसा ही फ्रास की क्राति के दौरान हुआ। बी०सी० पाल ने बंकिम और उसके सहयोगी लेखको की तुलना वाल्टेयर और फ्रांसीसी विश्वकोषकारों से की है।* वंकिम के ऐतिहासिक और अर्द्ध-ऐतिहासिक उपन्यास ऐसी तीव्र देशभक्ति से ओतप्रोत हैं कि उन्हें पढ़कर पाठको के हृदय में बिजली-सी दौड़ जाती है। उन्होने देशभक्ति का महान सदेश उस समय दिया, जब भारतीय राष्ट्रवाद अपने पाँव पर खड़ा होने का प्रयत्न कर रहा था, न तो उसमे अधिक साहस था और न अधिक बल। जनता से अपनी मातृभूमि के साथ पूर्ण तादात्म्य का अनुरोध करके उन्होंने राष्ट्रवाद को धार्मिक रूप से अनिवार्य बना दिया। वह यह जानते थे कि भारतीय मन को धर्म से ज्यादा कोई और चीज प्रभावित नही कर सकती। इसलिए उन्होने मातृदेवी के साथ मातृभूमि का सादृश्य स्थापित करके राष्ट्रवाद को धर्म का दर्जा प्रदान किया। यही नहीं, उन्होंने राष्ट्रवाद की इस

* माई लाइफ एण्ड टाइम

प्रकार व्याख्या की कि उसे उच्च आध्यात्मिक आदर्श बना दिया। 'आनंदमठ' और 'वन्दे मातरम्' द्वारा भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का गहराई से प्रभावित होना एक ऐतिहासिक तथ्य है। डॉ. बी० बी० मजूमदार कहते है, "अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे फ्रास पर रूसो के सोशल कान्ट्रेक्ट ने जितना प्रभाव डाला था आनदमठ' ने आधुनिक भारत के इतिहास पर उससे कम प्रभाव नही डाला।"* टी० डब्ल्यू० क्लार्क भारतीय राष्ट्रवाद के विकास मे बंकिम के योगदान का सारांश प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, "आनन्दमठ राष्ट्रवाद के प्रारम्भिक विकास मे उनका महानतम योगदान था और ये दो शब्द 'वन्दे मातरम्' शीघ्र ही आधुनिक युग *का सबसे अधिक जोश पैदा करने वाला नारा बन गया।"*** केवल आनंदमठ का ही नही, उनके अन्य उपन्यासो जैसे 'राजसिंह', 'दुर्गेशनन्दिनी', 'देवी-चौधरानी', 'सीताराम' आदि का भी वैसा ही प्रभाव पडा।

पर बंकिम का राष्ट्रवाद भावनात्मक इच्छा तक ही सीमित नही था, वह उसके रचनात्मक पक्ष पर अधिक बल देते थे। व्यक्ति को स्वय निष्ठापूर्वक राष्ट्रवाद के सम्प्रदाय मे दीक्षा लेनी चाहिए और उसके लिए आवश्यक आत्मत्याग और अनुशासन का पालन करना चाहिए। आत्मविश्वास की कमी पर वह बहुत दुखी थे। अनुनय-विनय और बौखलाहट की राजनीति और समाचारपत्रों मे तथा सभामंचों तक सीमित अवास्तविक आदोलनों को वह व्यर्थ मानते थे। उनका विचार था कि लोगों के चरित्र को इस प्रकार ढालना अनिवार्य है, जिससे वे अपनी राष्ट्रीय विरासत और भाषा, साहित्य तथा संस्कृति का सम्मान करें और पश्चिम का अंधानुकरण करना छोड दें। देश को बंकिम ने एक ऐसे सुदृढ राष्ट्रवाद का दान दिया, जिसकी जडें मातृभूमि में थीं, जो राष्ट्रीय विरासत और इतिहास के लिए सम्मान और गर्व की भावना से पुष्ट था और जिसे राष्ट्रीय नैतिकता के सुदृढ तंतुओं से बल प्राप्त था। महत्त्व की दृष्टि से उनके दर्शन में राष्ट्र का स्थान ईश्वर के बाद दूसरा है। दूसरे शब्दो मे बंकिम की विचारधारा मे देश-प्रेमहीन ईश्वर-भक्ति का कोई अर्थ नही।

बंकिम के विचारों ने सामान्य [illegible] की ज्योति [illegible]
ही उनका सम्भवत. नवराष्ट्रवाद [illegible] भी [illegible]

* [illegible]

** हिस्टोरियन्स आफ इण्डिया, [illegible]

पड़ा। पिछली शताब्दी के 80-90 के वर्षों में उत्पन्न यह विचार वर्तमान शताब्दी के पहले दो दशकों में महाराष्ट्र में तिलक के, पंजाब में लाजपतराय के और बंगाल में विपिनचन्द्र पाल और श्री अरविन्द के नेतृत्व में भारतीय राजनीति का सर्वाधिक मुखर स्वर बन गया।

नवराष्ट्रवाद की विशेषताएँ वस्तुत: क्या थीं? मोटे तौर पर कहें तो नवराष्ट्रवाद उदारवादी नेताओं द्वारा चलाए गए संवैधानिक आंदोलन के विरुद्ध जैसा कि कुछ लोगों ने कहा है, अनुनय-विनय की राजनीति के विरुद्ध, उनकी तीव्र प्रतिक्रिया थी। इसने राष्ट्रवाद में अधिकारों के लिए आग्रह और स्वतंत्रता को सम्मिलित कर दिया। बंकिम ने सीधे ढंग से संघर्ष का सुझाव तो नहीं दिया पर उनके सभी उपन्यासों में यानी 'दुर्गेशनन्दिनी', 'राजसिंह', 'आनन्दमठ' और 'सीताराम' में स्वतंत्रता या आत्मरक्षा के लिए संघर्ष का स्वर है। दूसरे शब्दों में कहा गया कि जनता का यह दायित्व है कि वह अन्यायपूर्ण शासन के अन्तर्गत होने वाले शोषण या देश अथवा समाज पर होने वाले बाहरी आक्रमण से उसकी रक्षा करे। बंकिम की तरह नवराष्ट्रवादी भी यह मानते थे कि अनुनय-विनय और अपील तथा प्रस्ताव पास करने की राजनीति से वांछित लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। बंकिम ने यह समझ लिया था कि जब तक राष्ट्र में आत्मविश्वास और आत्मबलिदान की भावना पैदा नहीं होती और राष्ट्रीय मूल्यों का पुनरुज्जीवन नहीं होता, तब तक इस प्रकार के आंदोलन का कोई असर नहीं होगा। बंकिम ने देश के अतीत के पुनरुज्जीवन में, जिस पर नवराष्ट्रवाद का निर्माण हुआ, महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उदारवादी सम्भवत: यह सोचते थे कि पश्चिमी ढांचे की राजनीति भारत में भी यंत्रवत उत्पन्न की जा सकती है। नवराष्ट्रवादियों ने इसका जबर्दस्त खण्डन किया। ऐसे समय जब देश सांस्कृतिक संकट से गुजर रहा था, तब बंकिम ने हिन्दू धर्म की शक्तिशाली पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की और उसके प्रति गौरव की भावना को पुनरुज्जीवित किया। उन्होंने लोगों को सीधे-सादे ढंग से यह बताकर उनका मनोबल बढ़ाया कि हिन्दू धर्म को, जो अपने विशुद्ध रूप में अपने बल पर खड़ा है, किसी के द्वारा रक्षा की आवश्यकता नहीं है। एक बड़ी हद तक नवराष्ट्रवाद के कदम अतीत के पुनरुज्जीवन और पश्चिम के तिरस्कार के आधार पर जमे थे। तिलक और लाजपतराय दोनों पाश्चात्य के अंधानुकरण के विरोधी थे। तिलक ने सुधार आंदोलनों का विरोध अन्य कारणों के अलावा इसलिए भी किया कि वह पश्चिम की दासतापूर्ण नकल के विरोधी थे। वह भी हिन्दू-धर्म की श्रेष्ठता में विश्वास रखते

थे। श्रीअरविंद ने भारत के पुनरुत्थान के लिए राष्ट्रवाद को आत्मा की भूख कहा था। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि बंकिम की तरह नवराष्ट्रवाद के प्रवक्ताओं को भी प्रेरणा प्राचीन भारतीय गौरव ग्रंथों और धर्मशास्त्रों से मिली।

सचाई तो यह है कि नवराष्ट्रवाद कोई नागरिक या राजनीतिक तृप्ति नहीं थी, बल्कि यह अपने में एक धर्म था। दूसरे शब्दों में यह बंकिम के तत्संबंधी विचारों का ही विस्तार था। जैसा कि पहले देख चुके हैं बंकिम ने राष्ट्रवाद को धर्म का गौरवमय दर्जा प्रदान किया। ऐसा दो प्रकार से किया गया। पहले तो मातृभूमि को मातृदेवी के साथ एकरूपता स्थापित कर और दूसरे देशसेवा को मनुष्य के धार्मिक और आध्यात्मिक उत्तरदायित्वों का अभिन्न अंग बनाकर। नवराष्ट्रवादी इससे भी दो कदम आगे गए। उन्होंने केवल समान सीमाक्षेत्रीय और नागरिक हितों पर आधारित राष्ट्र के पश्चिमी विचार का खंडन किया और सांस्कृतिक एकता और आध्यात्मिकता पर आधारित ऐसे राष्ट्र का विचार प्रस्तुत किया जिसका अपना निजी व्यक्तित्व हो। नवराष्ट्रवाद के मसीहा श्रीअरविंद ने पुरातन मूल्यों के पुनरुज्जीवन पर आधारित देशभक्ति का सिद्धांत प्रस्तुत किया। उनके विचार में माता, जिसकी मातृभूमि के साथ एकरूपता स्थापित की गई है, केवल भूमि खंड या एक इलाकाई टुकड़ा नहीं है, वह एक जीवित इकाई है, जिसमें उसकी संतान विचरणशील है और जिसमें वह जीती है। विपिनचन्द्र पाल ने राष्ट्रवाद को धार्मिक ज्योति से मंडित किया। उनके विचार में माता का अपना व्यक्तित्व है और हमारा इतिहास माता की पुनीत जीवनी है। श्रीअरविंद भारतीय राष्ट्रवाद को सनातन धर्म (ये शब्द सहसा बंकिम का स्मरण कराते हैं) का पर्यायवाची मानते थे। तिलक भी, जो गणपति उत्सव के माध्यम से जनता की धार्मिक भावनाओं को जगा रहे थे, धर्म का संबंध राजनीति से जोड़ते थे। नवराष्ट्रवादी भारत को 'मातृदेवी' के रूप में देखते थे और पूजा, हिन्दू देवियों की पूजा, और गणेश उत्सव का, जिसका संबंध एक हिन्दू देवता से है उपयोग राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के निमित्त जनता में जोश पैदा करने के लिए करते थे।* पर कुल मिला कर राजनीति और धर्म एक दूसरे में मिल गए या यों कहें कि राजनीति स्वयं धर्म बन गई। कम से कम बंगाल में तो ऐसा ही हुआ, क्योंकि वहाँ यह लहर व्यावहारिक की अपेक्षा भावनात्मक अधिक थी। इसके विपरीत महाराष्ट्र में यह भावनात्मक की अपेक्षा राजनीतिक अधिक थी। चाहे जो हो, वह बंकिम ही थे जिन्होंने मातृभूमि को देवी माता

* कन्टिन्यूटी एण्ड चेन्ज इन इण्डियन पोलिटिक्स, करुणाकरण

के रूप में देखने के विचार को लोकप्रिय बनाया। उन्होंने माता के विभिन्न रूपों या पक्षों को चित्रित करने के लिए हिन्दू धर्म के कुछ लोकप्रिय देवी-देवताओं को ग्रहण किया, इस प्रकार प्राचीन और परम्परागत पौराणिक कथाओ में देशभक्ति के मिथक की एक नई कड़ी जुड़ गई।

अन्तत., नवराष्ट्रवाद अधिक लोकतान्त्रिक था और जनता की भाषा के निकट होने के कारण जनता की ओर ज्यादा झुका हुआ था। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, बंकिम जनता और जन-शिक्षा के समर्थक थे, शोषित किसानों के हितो के जबर्दस्त प्रवक्ता थे और मानवनिर्मित सामाजिक भेदभावों के विरोधी थे। उन्होंने जनता को शिक्षित करने के लिए मातृभाषा के प्रयोग के समर्थन में भी आवाज उठाई थी। उन दिनों की उदारवादी राजनीति के विपरीत, उनका राष्ट्रवाद जन-आधारित था न कि उच्चवर्ग आधारित। यह भी नवराष्ट्रवाद की एक विशेषता थी, जिसका उद्देश्य राजनीति को सभाकक्षों से बाहर व्यापक क्षेत्र मे उतार ले जाना था ताकि जनता उसमे भागीदार बन सके। यह नया सिद्धांत बहुत लोकप्रिय हुआ। इस नए सम्प्रदाय के ढांचे का निर्माण तिलक के चुंबकीय हद तक आकर्षक व्यक्तित्व, श्रीअरविंद के प्रेरक उपदेशों और पाल के जोशीले व्याख्यानो से हुआ।

महाराष्ट्र में नवराष्ट्रवाद का उदय पिछली शताब्दी के अन्त मे तिलक के नेतृत्व मे हुआ और यह निरन्तर बल पकड़ता गया। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में इसने एक जबरदस्त शक्ति का रूप धारण कर लिया। तिलक का फड़के के साथ सम्पर्क था, जिन्होंने महाविद्रोह (1857) के बाद पहली बार सशस्त्र क्रांतिकारी प्रयास किया था। उनके अधीन तिलक बन्दूक चलाना सीखना चाहते थे, स्पष्टत: उनकी भावना उस समय क्रांतिकारी रही होगी, पर बाद में उन्होंने अपना रास्ता बदल लिया और राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन की आग जलाने में लग गए।* बगाल मे भी नवराष्ट्रवाद की हलचल, यद्यपि बहुत खुले रूप में नहीं, बगभंग के बल पकड़ने से बहुत पहले ही अनुभव की जा रही थी। इस प्रकार से राष्ट्रवाद की धुधली शुरुआत बंकिम के सममामयिक और श्रीअरविन्द के नाना प्रसिद्ध लेखक राजनारायण बसु की रचनाओं और गतिविधियों मे देखी जा सकती है। जैसा कि हम देख चुके है सभवत. वकिम ने भी 'आनन्दमठ' लिखने से पहले फड़के और उनके कारनामों के विषय में सुना या पढ़ा होगा।

* लोकमान्य तिलक, तम्हणकर

फड़के क्रान्तिकारी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए डकैती की सोचते थे। 'आनन्दमठ' और 'देवी चौधरानी' में भी डकैती क्रमश राजनीतिक और सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए की गई थी। चाहे जो हो, बंकिम ने अपने शक्तिशाली राष्ट्रवादी विचारों का प्रसार 70-80 के वर्षों के बाद आरम्भ कर दिया था और वह उन दिनों की अवास्तविक राजनीति की, जिसे जनता का समर्थन और सहयोग प्राप्त नहीं था, कटु आलोचना कर रहे थे। उस समय तक नवराष्ट्रवाद की लहर महाराष्ट्र तक पहुँच गई थी और बंकिम की कुछ प्रमुख कृतियों का अंग्रेजी और मराठी में भी अनुवाद हो चुका था, जिनमें 'राजसिंह' के दो मराठी अनुवाद सम्मिलित थे। सम्भवत बंकिम के हृदय को आन्दोलित करनेवाला देशभक्ति का संदेश महाराष्ट्र तक पहुंच गया था, जहाँ उन दिनों नवराष्ट्रवादी जागरण की प्रक्रिया चल रही थी। निश्चय ही उनका यह संदेश देश के दूसरे भागों में भी फैल चुका था, क्योंकि उस समय तक उनकी प्रमुख देशभक्तिपूर्ण कृतियों का उर्दू और हिन्दी सहित कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका था।

बंगाल और महाराष्ट्र में उद्भूत राष्ट्रवाद की दो धाराएँ इस शताब्दी के पहले दशक में एक दूसरे में समाहित हो गईं और इन्होंने बगभग आन्दोलन को जन्म दिया। उस समय बंगाल के राजनीतिक वातावरण पर एक और महत्वपूर्ण घटना का गहरा प्रभाव पड़ा—वह थी स्वामी विवेकानन्द द्वारा नव-वेदान्तवाद का उपदेश। विवेकानन्द को बंकिम की सुदृढ़ देशभक्ति और मातृभूमि की उनकी कल्पना विरासत में मिली थी, पर वह बंकिम के दार्शनिक सिद्धान्तों से सहमत नहीं थे। बंकिम ने ऐसे धर्म का उपदेश दिया, जिसमें उपयोगितावाद और राष्ट्रवाद को धार्मिक उत्तरदायित्वों का भाग माना गया था। पर विवेकानन्द ने उपनिषदों में प्रतिपादित निर्भीकता का प्रचार किया और अपने देशवासियों से वीर बनने और अपने मन से भय और शंका को दूर करने की अपील की। दोनों ही विचार पद्धतियों का बंगाल में राष्ट्रवाद पर एक-सा प्रभाव पड़ा। बंगाल का राष्ट्रवाद भावात्मक और रोमांटिक था और न केवल विशाल जन-आंदोलनों के रूप में, बल्कि बड़ी संख्या में साहित्यिक कृतियों में प्रस्फुटित हो रहा था। इन कृतियों में हृदय को आन्दोलित करने वाले देशभक्तिपूर्ण गीत भी सम्मिलित थे, जिनमें से कुछ एक में बंकिम के शब्दों और स्वर में मातृभूमि का गुणगान किया गया था। कला, साहित्य, संगीत और धर्म के माध्यम से राष्ट्रवाद पुष्पित हो रहा था। 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बोए गए राष्ट्रवाद

अब अंकुरित होकर पुष्पित-पल्लवित हो रहे थे। जिन व्यक्तियों ने बीज बोए थे, उनमें बंकिम सबसे अधिक चमकीले थे। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि बंकिम के विचारों और परिकल्पनाओं ने, उनके स्वप्नों और अन्तर्दृष्टि ने, उनकी आशाओं और आकांक्षा ने बंग-भंग आन्दोलन और स्वदेशी आन्दोलन की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। बंकिम ने बहुत पहले ही महान राजनीतिक आन्दोलन की बौद्धिक और भावात्मक आधारशिला का निर्माण कर दिया था।

महाराष्ट्र का राष्ट्रवाद भी, जो भावात्मक की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक था, अतीत के पुनरुज्जीवन पर आधारित था। जनता पर तिलक के जादुई प्रभाव का एक रहस्य यह था कि वह भारत की परम्पराओं और संस्कृति के बड़े प्रशंसक थे। अपने गणपति और शिवाजी उत्सवों के माध्यम से उन्होंने जनता की नसों में बिजली भर दी और वह उन्हें एक मंच पर ले आए। उन्होंने शिवाजी को एक ऐसे वीर नायक के रूप में प्रस्तुत किया, जो अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध थे, न कि मुसलमानों के। बंकिम ने भी सीताराम और राजसिंह को बिलकुल भिन्न आयाम में इसी रूप में प्रस्तुत किया है।

जब तिलक के प्रतिरोधात्मक विचार का बंगाल के रागात्मक राष्ट्रवाद के साथ मिश्रण हो गया, तो इसने एक शक्तिशाली लहर का रूप धारण कर लिया, जो समस्त भारत में दौड़ गई। तिलक के नेतृत्व में पूर्व में कलकत्ता से लेकर पश्चिम में कराची तक और उत्तर में दिल्ली से लेकर दक्षिण में मद्रास तक समस्त भारत ने बंगभंग के विरुद्ध आक्रोश और बंगाल के प्रति सच्ची सहानुभूति व्यक्त की।*

यहाँ यह स्मरणीय है कि किस प्रकार बंगाल का मराठों के प्रति विद्वेष (18वीं शताब्दी के अंतिम चरण में मराठों द्वारा बंगाल पर आक्रमण के कारण उत्पन्न) तिलक के प्रभाव में एक ही रात में खत्म हो गया और बंगाल ने शिवाजी को एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व और राष्ट्रीय संग्राम के प्रेरणा स्रोत के रूप में देखना शुरू कर दिया। शिवाजी को लेकर वीरपूजा की एक नई छटा व्याप्त हो गई। कलकत्ता में 1902 से 1906 तक शिवाजी उत्सव मनाया गया। कवीन्द्र रवीन्द्र ने शिवाजी पर अपनी प्रसिद्ध कविता 1904 में लिखी। 1906 के उत्सव के अवसर पर तिलक स्वयं उपस्थित थे। यह बंगाल और महाराष्ट्र के बीच महत्त्व-

* लोकमान्य तिलक : तम्हणकर

पूर्ण मानसिक मिलन था। दोनों ने स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के लिए समान उत्साह से आह्वान किया। वस्तुतः स्वदेशी आन्दोलन पहला वास्तविक जन-आन्दोलन था, जिसने देश की राजनीति के स्वरूप में आमूल परिवर्तन ला दिया। बंगाल में उद्भूत इस आन्दोलन की लहर देश भर में दौड़ गई। डॉ० आर० सी० मजूमदार ने गुप्त सरकारी रिपोर्टों का हवाला देते हुए यह बताया है कि किस प्रकार स्वदेशी आन्दोलनों की लहर 1905 के अन्त तक ही सारे भारत—संयुक्त प्रांत, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब और मद्रास प्रेसिडेंसी तक फैल गई थी।* जैसा कि पहले देख चुके हैं इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार करने में बंकिम ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था।

बंकिम और उनसे 18 वर्ष कनिष्ठ तिलक में कुछ आश्चर्यजनक समानताएँ हैं। हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता में विश्वास रखने वाले दोनों ही क्रान्ति से पहले पुनरुज्जीवन लाना चाहते थे। दोनों गुलामों की तरह पश्चिम के अन्धानुकरण के विरुद्ध थे। अंग्रेजी भाषा के महत्त्व को समझते हुए भी दोनो ने भारतीय भाषाओं का समर्थन किया। दोनों में से कोई भी सामाजिक मामलों में कानूनी हस्तक्षेप के पक्ष में नहीं था। दोनों ने ही अनुनय-विनय की राजनीति की भर्त्सना की और दोनों जनता की ओर झुके। दोनों ने ही धर्मग्रंथों, विशेषकर गीता से प्रेरणा प्राप्त की और उसकी व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। दोनो ही ने धार्मिक भावनाओं का राष्ट्रवाद से संबंध जोड़ा। पर बंकिम एक विचारक थे, जबकि तिलक विचारक होने के साथ-साथ मुख्यतः कर्मवीर थे। यह एक महत्त्वपूर्ण अन्तर था।

बहुत हद तक बंकिम की कृतियाँ विप्लवी क्रांतिकारियों के लिए, जो सामान्यतः आतंकवादियों के नाम से प्रसिद्ध थे, प्रेरणा का स्रोत थीं। बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन के दौरान क्रान्तिकारी काफी सक्रिय थे। रूस-जापान युद्ध में एक एशियाई देश की विजय से स्वतन्त्रता की भावना को नया बल मिला और राष्ट्रवाद की लहर और तेज हो गई। बंकिम की रचनाओं और विवेकानन्द के भाषणों ने एक प्रभावशाली वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। नव-राष्ट्रवाद की लहर देश भर में दौड़ गई थी। उसी समय राजनीतिक आन्दोलन की तत्कालीन पद्धति की निरर्थकता के कारण निराश युवा वर्ग हतोत्साह हो रहा था। इन सबके ऊपर बंगभंग के रूप में नौकरशाही शासन की ओर से जबर्दस्त प्रहार हुआ और

* हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया, खण्ड-2

उसके विरुद्ध आवाज उठाने वाले देशभक्तों पर भारी अत्याचार किए गए। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि बम और पिस्तौल तथा राजनीतिक डकैती का उदय हुआ। प्रारम्भिक अपरिपक्व क्रांतिकारी प्रयासों मे बंगाल के अपमान-जनक विभाजन और शासन की अन्य गलतियों के कारण कटुता आई। आतंक-वादी तरीकों से ब्रिटिश राज्य को उलटने के उद्देश्य से बंगाल भर मे बहुत-सी गुप्त संस्थाएँ बन गईं। एक वर्ग यह सोचता था कि सशस्त्र विद्रोह की तैयारी के लिए विदेशों से शस्त्र मँगाए जाएँ, दूसरा वर्ग सोचता था कि यूरोपीय अधिकारियों की हत्या करके शासन को ठप्प कर दिया जाए। इसके लिए जो तरीके अपनाए गए, वे थे बम बनाना, शस्त्र इकट्ठे करना, दल के खर्च के लिए डाके डालना और अधिकारियों तथा गुप्तचरों की हत्या करना।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इन संस्थाओं मे सबसे शक्तिशाली, 'अनुशीलन समिति' थी, जिसकी प्रान्त भर मे बहुत-सी शाखाएँ थी और जिसके साथ कुछ चोटी के क्रांतिकारी सम्बद्ध थे। दल का यह नाम बंकिम की कृति 'धर्म तत्व अनुशीलन' से लिया गया था। न केवल नाम बल्कि गुणों की दृष्टि से भी समिति ने उस उपन्यास में प्रस्तुत आदर्शों का, अर्थात व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास, जिसमें दैहिक व्यायाम आदि पर अधिक बल दिया गया था, अनुसरण करने का प्रयत्न किया। पर उसका मुख्य उद्देश्य क्रांतिकारी गतिविधियों का संगठन करना था। यह भी उल्लेखनीय है कि क्रातिकारियों को जो शपथ लेनी पड़ती थी, 'वन्दे मातरम्' उसका भाग था। शपथ लेने वाले सदस्यों को कठोर अनुशासन का पालन करने के अतिरिक्त सभी सासारिक बन्धनों से पूर्ण रूप से मुक्त होकर आत्म-बलिदान के लिए तैयार रहना पड़ता था और यह शपथ ठीक वैसी ही थी जैसी 'आनन्द मठ' मे 'सन्तानों' द्वारा ली जाने वाली शपथ थी। श्रीअरविन्द, जिन पर बंकिम के विचारों का गहरा प्रभाव था, क्रातिकारियों के प्रेरणा स्रोत थे और उनके भाई बारीन्द्रकुमार घोष क्रातिकारी गतिविधियों का नेतृत्व करते थे। श्रीअरविन्द द्वारा लिखी गई 'भवानी मन्दिर' नामक पुस्तक में, नगर के कोलाहल से दूर मानव बस्तियों से बहुत परे एक धार्मिक मन्दिर की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया गया था, जो देश की स्वतंत्रता के कार्य में लगे निष्ठावान राजनीतिक संन्यासियों के एक दल का आवास बताया गया था। शक्तिरूपा भवानी की पूजा और शारीरिक शक्ति के विकास पर बल इस प्रायोजित क्रातिकारी मन्दिर की गतिविधियों के भाग थे। निश्चय ही

इस पुस्तक की प्रेरणा, जिसका ज़िक्र 1918 की सिडिशन (राजद्रोह) कमेटी की रिपोर्ट मे हुआ है, बंकिम द्वारा 'आनन्दमठ' मे वर्णित राजनीतिक सन्यासियों के मठ से मिली होगी। श्रीअरविन्द ने स्वयं अपनी पत्रिका का नाम वन्दे मातरम् रखा था। इसके अलावा 'युगान्तर' नाम की एक अन्य पत्रिका ने क्रातिकारी भावनाओ का प्रचार किया। गुप्त क्रातिकारी गतिविधियो के लिए धन की आवश्यकता थी। इसलिए खूब राजनीतिक डकैतियाँ डाली गई। लगता है कि बहुत हद तक इनका सूत्र भी बंकिम के 'आनन्दमठ' और 'देवी चौधरानी' से मिला होगा। क्रातिकारी देश की स्वतन्त्रता के लिए सम्पूर्ण आत्मबलिदान की भावना से ओतप्रोत थे। 'आनन्दमठ' के 'सन्तानों' की तरह उनका भी ध्येय था, 'करो या मरो'। मन को आन्दोलित कर देने वाली इस शपथ मे कहा गया था अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए मैं अपने प्राणो का बलिदान कर दूँगा। इसी शपथ ने 'आनन्दमठ' के घने जगल की भयावह नीरवता को भग किया था, इसी ने युवा क्रातिकारियों के, जिन्होने देश की खातिर उस खतरनाक रास्ते को चुना था और फलस्वरूप भयंकर परिणाम भोग रहे थे, हृदयों को बार-बार आन्दोलित किया था।

ये गुप्त क्रांतिकारी गतिविधियाँ बंगाल तक ही सीमित नही रही, अपितु देश के विभिन्न भागो तक फैल गई। बंगाल के क्रातिकारी स्वयं भी कई अन्य प्रातो मे गए, जबकि उन स्थानों मे बहुत-सी जगह स्वतन्त्र क्रातिकारी संस्थाएँ थी, जैसे सावरकर की 'अभिनव भारत' संस्था। भारत के बाहर किस प्रकार क्रातिकारी गतिविधियो का संचालन हो रहा था, यह भी सर्वज्ञात है। यह ध्यान देने योग्य है कि एक भारतीय विद्यार्थी मदनलाल धीगरा को, जिसने सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फार इण्डिया के पोलिटिकल ए-डी-सी कर्जन वाइली की हत्या कर दी थी, फासी पर लटकाया गया था। फासी चढते समय उसके होंठो पर 'वन्दे मातरम्' की ध्वनि थी।

यदि बंकिम जीवित होते, तो इस सबके प्रति उनकी क्या प्रतिक्रिया होती? अपनी कुछ कृतियो के इस प्रकार आतंकवादी उद्देश्यो के लिए उपयोग का वह समर्थन करते या नही, इसका बस अनुमान ही लगाया जा सकता है। इस बात को समझने के लिए यह आवश्यक है कि बंकिम के शक्ति के प्रयोग के सिद्धान्त का कुछ और विस्तार से अध्ययन किया जाए। बंकिम ने राजनीति से बल प्रयोग का पूर्ण बहिष्कार कभी नहीं किया और न ही वह विशुद्ध अहिंसा में विश्वास

रखने वाले थे। उदाहरण के लिए, वह युद्ध को, यदि वह देश की रक्षा के लिए किया गया हो, तो अनैतिक या अन्यायपूर्ण नही मानते थे।* वह शारीरिक प्रशिक्षण और सुदृढ़ता की अर्हता पर भी बल देते थे। उदाहरण के लिए प्रफुल्ला को देवी चौधरानी बनने के लिए कठोर शारीरिक प्रशिक्षण की प्रक्रिया से गुजरना पड़ा। 'कृष्ण चरित्र' में कृष्ण के उपदेश के प्रसग मे वह इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है कि सारी हिंसा आवश्यक रूप से पाप नही है और जहाँ शक्ति का प्रयोग अन्यायपूर्ण हिंसा का मुकाबला करने के लिए किया जाता है, वहाँ यह पूरी तरह उचित है।** इस प्रकार वह विशुद्ध अहिंसा और समाज की व्यावहारिक आवश्यकताओं के बीच सतुलन स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

पर बंकिम शक्तिलोलुपता या आत्मोन्नति के लिए बल प्रयोग को न्यायसंगत नहीं बताते। शक्ति का प्रयोग, यदि आवश्यक हो ही, तो 'धर्म' अर्थात लोगों के हित के लिए करना चाहिए। 'आनन्दमठ' और 'देवी चौधरानी' दोनों में कार्य-प्रणाली के सिद्धान्त के रूप मे शक्ति का प्रयोग अन्ततोगत्वा अवमूल्यित कृत्य बताया गया है, जब डॉक्टर कहता है कि बुरे साधनो से अच्छे लक्ष्य प्राप्त नही किए जा सकते, और देवी डाकुओं की मलका बनी रहने से इंकार कर देती है और सीधा-सादा घरेलू जीवन बिताना चाहती है। सत्य तो यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों मे शक्ति के प्रयोग की अनुमति देते हुए भी बंकिम ने इसे गलतियों को सुधारने का एक मात्र साधन या मुख्य साधन नही माना और शारीरिक शक्ति को बौद्धिक शक्ति या प्रबुद्ध जनमत के मुकाबले में हेय माना है। बंकिम ने जन-कल्याण के आदर्श पर स्थापित एक नैतिक समाज की कल्पना की थी, जिसमे शक्ति का प्रयोग बिलकुल वर्जित तो नही है, पर मानवीय सबंधो का नियमन शक्ति द्वारा नही, प्रबुद्ध जनमत द्वारा होता है। बंकिम ने अच्छे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बुरे साधनों का कभी समर्थन नही किया। वे चाहते थे कि शिक्षा और ज्ञान के माध्यम से मानव-चरित्र को इस प्रकार ढाला जाए कि वह जीवन के महान लक्ष्यो को प्राप्त कर सके। और यही लोकतांत्रिक व्यवस्था का बुनियादी सिद्धान्त है। वह मूल रूप से एक रचनात्मक विचारक थे। वह यह कदापि नही चाहते थे कि उनकी कृतियों से क्षणिक जोश या आकस्मिक हिंसात्मक विस्फोट का पोषण हो। वे चाहते थे कि उनके विचार राष्ट्र के मानस की गहराइयों

* धर्म तत्त्व, अध्याय 8 और 13

** कृष्णचरित्र, भाग-6, अध्याय-6

में उतरें जिससे उसको नैतिक बल मिले और वह अपने योग्य सिद्ध हो सके। वे यह नहीं मानते थे कि आकस्मिक क्रोध या जोश से, चाहे वह हिंसक हो या अहिंसक, राष्ट्र की कोई समस्या हल हो सकती है। उनके उपदेश का ठीक से अध्ययन करने से यह पता चलता है कि उसका उद्देश्य क्रांतिकारियों के अत्यधिक आक्रोश को प्रेरणा प्रदान करने से कहीं अधिक गंभीर और आधारभूत था।

इस प्रकार एक ऐसे व्यक्ति की जीवन-गाथा समाप्त होती है, जिसके शक्तिशाली व्यक्तित्व का भारत के जीवन और साहित्य पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि बंकिम सर्वोपरि एक कलाकार थे, फिर भी उन्होंने राष्ट्र-निर्माण का कठिन रास्ता चुना और यह चुनाव उन्होंने अपनी आन्तरिक विवशता के कारण किया। उन्होंने अपने देशवासियों तक वह संदेश पहुँचाया, जो तब तक केवल अस्पष्ट रूप से सुनाई पड़ता था। देश के नवजात राष्ट्रवाद को उन्होंने शक्ति, गरिमा और रचनात्मक दिशा प्रदान करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अज्ञान, उदासीनता और अंधविश्वासों का पालन करने के लिए लोगों की भर्त्सना की। उन्हें गुलामों की भाँति पश्चिम का अंधानुकरण करने के लिए फटकारा, राष्ट्र और राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति गौरव का अनुभव करना सिखाया और उन्हें राष्ट्रवाद का संदेश देकर प्रेरित किया। इस प्रकार बंकिम ने राष्ट्रवाद को नई दिशा और नया लक्ष्य प्रदान किया।

परिशिष्ट-1

वन्दे मातरम् (देवनागरी लिपि में)

वन्दे मातरम् ।
सुजलां सुफलां मलयजशीतलाम्
शस्यश्यामलां मातरम् ।
शुभ्र-ज्योत्सना-पुलकित-यामिनीम्
फुल्लकुसुमित - द्रुमदलशोभिनीम्,
सुहासिनीं सुमधुरभाषिणीम्
सुखदां वरदां मातरम् ।
सप्तकोटिकण्ठ-कल-कल-निनादकराले,
द्विसप्तकोटि भुजै धृं तखरकरवाले,
अबला केन मा एत बले ।
बहुबलधारिणीं नमामि तारिणीं
रिपुदलवारिणीं मातरम् ।
तुमि विद्या तुमि धर्म्म
तुमि हृदि तुमि मर्म्म
त्वं हि प्राणा: शरीरे ।
बाहुते तुमि मा शक्ति,
हृदये तुमि मा भक्ति,
तोमारइ प्रतिमा गड़ि
मन्दिरे मन्दिरे ।
त्वं हि दुर्गा दशप्रहरणधारिणी
कमला कमल-दलविहारिणी
वाणी विद्यादायिनी नमामि त्वां
नमामि कमलाम् अमलां अतुलाम्
सुजलां सुफलां मातरम्
वन्दे मातरम्
श्यामलां सरलां सुस्मितां भूषिताम्
धरणीं भरणीं मातरम् ।

—बंकिमचन्द्र (आनन्द मठ से)

परिशिष्ट-2

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के जीवन और कृतियों का कालक्रम

1838 26 जून को कांठालपाड़ा मे जन्म।

1844 मेदिनीपुर में, जहाँ उनके पिता की नियुक्ति हुई, अंग्रेजी स्कूल मे प्रवेश।

1849 कांठालपाड़ा वापस आए। पहला विवाह। हुगली कालेज में प्रवेश

1852 'सम्वाद प्रभाकर' के लिए लिखना आरम्भ किया।

1853 'सम्वाद प्रभाकर' द्वारा आयोजित एक कविता प्रतियोगिता में नकद पुरस्कार जीता।

1854 1853 के जूनियर स्कालरशिप परीक्षा मे 8 रुपए की छात्रवृत्ति प्राप्त की।

1856 सीनियर स्कालरशिप परीक्षा मे सभी विषयों में उच्चतम दक्षता के लिए 20 रुपए की छात्रवृत्ति प्राप्त की। 'ललित पुराकालिक गल्प तथा मानस' (1853 में लिखित) प्रकाशित हुई। कानून की शिक्षा के लिए कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कालेज मे प्रवेश।

1857 कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा प्रथम श्रेणी मे पास की।

1858 बी० ए० की परीक्षा पास की। डिप्टी मजिस्ट्रेट और डिप्टी कलैक्टर के पद पर नियुक्ति और जसोर मे पद स्थापना।

1859 पत्नी की मृत्यु।

1860 स्थानान्तरण होकर नेगवा गए। राजलक्ष्मी देवी से विवाह। श्रेणी पांच के पद पर पदोन्नति और वेतन में वृद्धि। खुलना के लिए स्थानान्तरण।

1863 चौथी श्रेणी के पद पर पदोन्नति और एक बार फिर वेतन वृद्धि।

1864 'इण्डियन फील्ड' नाम की पत्रिका में बंकिम के अंग्रेजी उपन्यास 'राज मोहन्स वाइफ' का धारावाहिक प्रकाशन। बारुईपुर के लिए स्थानान्तरण, जहाँ वह बीच की थोड़ी-थोडी अवधि को छोड़कर 1896 तक रहे।

1865 'दुर्गेशनन्दिनी' का प्रकाशन।

1866 तीसरी श्रेणी के पद पर पदोन्नति और वेतन में वृद्धि; 'कपालकुण्डला' का प्रकाशन।

1867 लिपिक वर्गीय कर्मचारियों के वेतनक्रम निर्धारित करने के लिए गठित आयोग के सचिव के रूप में नियुक्ति।

1869 बी० एल० (कानून) की परीक्षा पास की। बहरमपुर में स्थानान्तरण। अंग्रेजी में 'आन दि ओरीजिन ऑफ हिन्दू फैस्टिवल्स' शीर्षक एक निबन्ध लिखा, जो बंगाल सोशल साइन्स एसोसिएशन के सामने पढ़ा गया। 'मृणालिनी' का प्रकाशन।

1870 'ए पापुलर लिट्रेचर फॉर बंगाल' शीर्षक अंग्रेजी मे एक निबन्ध लिखा, जो बंगाल सोशल-साइन्स एसोसिएशन के सामने पढ़ा गया। दूसरी श्रेणी के पद पर पदोन्नति। माता की मृत्यु।

1871 राजशाही डिवीजन के आयुक्त के अस्थायी निजी सहायक के पद पर नियुक्ति। 'कलकत्ता रिव्यू' में प्रकाशित 'बँगाली लिट्रेचर एण्ड बुद्धिज्म और सांख्य फिलॉसफी' शीर्षक के दो लेख बिना नाम के प्रकाशित हुए, जो बंकिम के लिखे हुए बताए जाते है।

1872 बंकिम के सम्पादन में बंगदर्शन का प्रकाशन। उनकी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण कृतियों—कथा और कथासाहित्येतर-का बंगदर्शन मे प्रकाशन आरम्भ हुआ। 'मुखर्जी मैगज़ीन' पत्रिका मे बिना नाम के प्रकाशित 'कनफैशन्स ऑफ ए यंग बंगाली' शीर्षक अंग्रेजी निबन्ध बंकिम के द्वारा लिखा हुआ बताया जाता है।

1873 मुखर्जी बन्धुओं की पत्रिका के लिए 'द स्टडी ऑफ हिन्दू फिलॉसफी' शीर्षक लेख लिखा। कर्नल डफिन के साथ विवाद, 'विष वृक्ष' और 'इन्दिरा' का प्रकाशन।

1874 बारासात में और कुछ समय के लिए मालदा में पदस्थापना, 'युगल-अंगुरिय' और 'लोक रहस्य' का प्रकाशन।

1875 लम्बी अवधि का अवकाश लिया। 'विज्ञान रहस्य', 'चन्द्रशेखर' और 'कमलाकान्तेर दप्तर' का प्रकाशन।

1876 हुगली मे स्थानान्तरण। 'बंगदर्शन' का प्रकाशन बन्द। 'विविध समालोचना' का प्रकाशन।

1877 हुगली में घर बसाया। संजीवचन्द्र के सम्पादन में 'बंगदर्शन' का प्रकाशन फिर शुरू हुआ। 'रजनिकान्त' और 'उपकथा' (जिसमें 'इन्दिरा" 'युगल अंगुरिय' और 'राधा रानी' सम्मिलित थे) का प्रकाशन। दीनबन्धु की कृतियों के संग्रह की भूमिका में दीनबन्धु मित्र की जीवनी लिखी।

1878 'कविता पुस्तक', और 'कृष्णकान्तेर विल' का प्रकाशन।

1879 'प्रबन्ध पुस्तक' और 'साम्य' का प्रकाशन।

1880 बर्दवान जिले के आयुक्त के निजी सहायक के पद पर नियुक्ति।

1881 हावड़ा में स्थानान्तरण, पिता की मृत्यु। कलेक्टर बकलैण्ड से झगड़ा। बंगला सरकार के अस्थायी सहायक सचिव के रूप में कलकत्ता में पदस्थापना।

1882 डिप्टी मजिस्ट्रेट और डिप्टी कलेक्टर के रूप में अलीपुर और वहाँ से बारासत और फिर अलीपुर और अन्ततः जाजपुर (उड़ीसा) के लिए स्थानान्तरण। कलकत्ता में बकिम ने अपने मित्रों के साथ, जिनमें प्रत्यक्षवादी जोगेन्द्रचन्द्र घोष भी सम्मिलित थे, और जिनको विश्वस्त सूत्रों के अनुसार बकिम ने 'हिन्दू धर्म संबन्धी पत्र' लिखे थे, अक्सर विचार-विमर्श। रेवरेंड हेस्टी के साथ विवाद। 'राजसिंह' (प्रथम संस्करण) और 'आनन्दमठ' का प्रकाशन।

1883 हावड़ा में स्थानान्तरण। कलेक्टर वेस्टमैकॉट के साथ विवाद।

1884 एक मासिक पत्रिका 'प्रचार' का प्रवर्तन किया, जिसमें 'सीताराम' के अतिरिक्त उनका 'कृष्णचरित्र', हिन्दू धर्म और हिन्दू देवी-देवताओं सम्बन्धी उनका 'देवतत्व और हिन्दू धर्म' शीर्षक निबन्ध तथा 'श्रीमद्-भगवद् गीता' पर उनकी अपूर्ण टीका धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुई। 'नवजीवन' में उनका धर्म संबंधी निबंध प्रकाशित हुआ, जो बाद में 'धर्म तत्व' का भाग बना। आदि ब्राह्म समाज के नेताओं से विवाद। हावड़ा में प्रथम श्रेणी के पद पर पदोन्नति, 'मुचीराम गुड़ेर जीवन चरित्' और 'देवी चौधरानी' का प्रकाशन।

1885 स्थानान्तरण होकर झिनाईदा गए। कलकत्ता विश्वविद्यालय सीनेट के फैलो नियुक्त हुए। ईश्वर गुप्त की कविताओं का सम्पादन और उसकी प्रस्तावना के लिए निबन्ध लिखा। 'कमलाकान्त' (जिसमें 'कमलाकान्तेर दप्तर' सम्मिलित था) का प्रकाशन।

1886 भद्रक (उड़ीसा) मे और बाद मे हावड़ा में पदस्थापना। 'क्षुद्र क्षुद्र उपन्यास' (जिसमें 'इन्दिरा', 'युगल अंगुरिय', 'राधारानी' और 'राजसिंह' सम्मिलित थे), 'राधारानी' और 'कृष्णचरित्र (भाग-1) का प्रकाशन।

1887 कलकत्ता में एक मकान खरीदा। मेदिनीपुर में पदस्थापना हुई। 'सीताराम' और 'विविध प्रबन्ध' (भाग-1) का प्रकाशन।

1888 स्थानान्तरित होकर अलीपुर गए, जो उनकी अन्तिम पदस्थापना थी। कलेक्टर बेकर के साथ मतभेद। 'धर्मतत्व अनुशीलन' (प्रथम भाग) का प्रकाशन।

1891 सितम्बर मे समय से पहले सेवानिवृत्ति। सोसाइटी फार हायर ट्रेनिंग फार यंग मैन के, जो बाद मे यूनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट के नाम से प्रसिद्ध हुई, साहित्य-विभाग के अध्यक्ष बने। 'गद्य पद्य व कविता पुस्तक' का प्रकाशन।

1892 कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा के लिए 'बंगाली सिलैक्शनस, का सम्पादन। प्यारीचांद मित्र की कृतियों की प्रस्तावना लिखी। रायबहादुर की उपाधि मिली। 'विविध प्रबन्ध' (भाग-2) और 'कृष्ण चरित्र' (संशोधित और परिवर्द्धित) का प्रकाशन।

1893 राजीव चन्द्र की कृतियों का सम्पादन। 'राजसिंह' (संशोधित और परिवर्द्धित) का प्रकाशन।

1894 सी० आई० ई० की उपाधि मिली। सोसाइटी फार दि हायर ट्रेनिंग आफ यंगमैन मे वैदिक साहित्य पर दो भाषण दिए। मार्च में मधुमेह ने जिससे वह पीड़ित थे, गम्भीर रूप धारण कर लिया। 8 अप्रैल को मृत्यु।

परिशिष्ट–3

विशिष्ट संदर्भ ग्रंथ सूची

अंग्रेजी

करुणाकरन : कन्टीन्यूटि एण्ड चेंज इन इंडियन पालिटिक्स एण्ड रिलीजिन एण्ड पालिटिकल एवेकनिंग इन इंडिया

कोत : दि पोजिटिव फिलॉसफी

ग्लेग, जी० आर० : मेमायर्स आफ वारेन हेस्टिंग्ज

गोयल, ओ० पी० : स्टडीज इन माडर्न इंडियन पोलिटिकल थॉट

घोष, अरविन्द : बंकिम-तिलक-दयानन्द

घोष, जे० एम० : सन्यासी एण्ड फकीर रेडर्स इन बंगाल

तह्मणकर : लोकमान्य तिलक

ताराचन्द : हिस्टरी आफ फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया

दत्त, आर० सी० : कलचरल हेरीटेज आफ बंगाल। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका

दासगुप्ता, जे० के० : ए क्रिटिकल स्टडी आफ दि लाइफ एण्ड वर्क्स आफ बंकिमचन्द्र।

पब्लिकेशन डिविजन : आवर नेशनल साग्स

पाल, बी० सी० : माई लाईफ एण्ड टाईम्स

फर्कुहर, जे० एन० : माडर्न रिलीजियस मूवमेन्ट्स इन इंडिया

फिलिप्स, सी० एच० (सम्पादित) : हिस्टोरियन्स आफ इंडिया, पाकिस्तान एण्ड सीलोन

फ्रेजर, आर० डब्ल्यू० : लिटररी हिस्ट्री आफ इंडिया

बक्लैंड, सी० ई० : इंडिया अण्डर दि लेफ्टिनेंट गवर्नरस्

बैनर्जी, बी० एन० : डान आफ न्यू इंडिया

बैनर्जी, एस० एन० : ए नेशन इन मेकिंग

बेसेन्ट, ऐनी : हाऊ इंडिया फॉट फार फ्रीडम

बुच, एम० ए० : इंडियन मिलिटेन्ट नेशनलिज्म

मजूमदार, ए० सी० : इंडियन नेशनल एवोल्यूशन

मजूमदार, बी० बी० : हिस्ट्री आफ इंडियन सोशल एण्ड पालिटिकल आइडिआज
मजूमदार, आर० सी० : हिस्ट्री आफ दि फ्रीडम मूवमेन्ट इन इंडिया
मित्र, एल० सी० : हिस्ट्री आफ इंडिगो डिस्टर्बेन्सेस इन बंगाल
मैक्डोनल्ड, आर० : दि अवेकिंग आफ इंडिया
रोनल्डशे : दि हार्ट आफ आर्यावर्त
वेस्टलैंड : ए रिपोर्ट आन दि जसौर डिस्ट्रिक्ट
सील, बी० एन० : न्यू एस्सेज इन क्रिटिसिज्म
सिडिशन कमिटी रिपोर्ट
सिन्हा, एन० (संपादित) : फ्रीडम मूवमेन्ट इन बंगाल
हंटर, डब्ल्यू० डब्ल्यू० : ए स्टेटिस्टिकल एकाउन्ट आफ बंगाल
दि ऐनल्स आफ रूरल बंगाल

बंगला

करीम, रेजाउल : बंकिमचन्द्र ओ मुसलमान समाज
चक्रवर्ती, टी० एस० : विप्लवी बंगला
चैटर्जी, सतीशचन्द्र : बंकिमचन्द्र
दत्त, हीरेन्द्रनाथ : दार्शनिक बंकिमचन्द्र
दत्तगुप्त, अक्षय : बंकिमचन्द्र
दासगुप्ता, एच० एन० : धर्मानुशीलने बंकिम
बागल, जे० सी० : मुक्तिरसंधाने भारत
बागल, जे० सी० (संपादित) : वंकिमृज वर्क्स, साहित्य संसद, कलकत्ता
बागची, मोती : बंकिमचन्द्र
बैनर्जी, बी० एन० : बांगला सामयिक पत्र
बैनर्जी, बी० एन० और दास सजनीकान्त : वंकिमचन्द्र (साहित्य साधक चरितमाला)
बैनर्जी, बी० एन० और दास सजनीकांत (संपादित) बंकिम रचनावली, सेन्टेनरी एडीशन, वंगीय साहित्य परिषद, कलकत्ता।
बैनर्जी, श्री कुमार : बंगला साहित्ये उपन्यासेर धारा
मुखर्जी, एम० डी० : आमार देखा लोक